अष्टावक्र गीता

अभिलाष साहेब

कबीर आश्रम इलाहाबाद

निवेदन

अष्टावक्र

महाभारत के वन पर्व के एक सौ बत्तीस (132)वें अध्याय से लेकर एक सौ चौंतीस (134)वें अध्याय तक अष्टावक्र की कथा आती है—

महर्षि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु थे। उद्दालक के गुरुकुल में कहोड़ नाम का विद्यार्थी था, जिसने अपनी बुद्धि और सेवा के बल पर उद्दालक को प्रसन्न कर उनसे वेद-विद्या का ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त कर लिया था। उद्दालक ने कहोड़ पर प्रसन्न होकर अपनी पुत्री सुजाता का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ दिनों में सुजाता गर्भवती हुई। कुछ मास बीतने पर एक दिन कहोड़ के वेद-पाठ पर गर्भस्थ शिशु ने व्यंग्य किया कि आप रातभर वेद-पाठ करते हैं, परंतु वह शुद्ध नहीं रहता।

अपने शिष्यों के बीच में गर्भस्थ शिशु की अशिष्टता देखकर कहोड़ को क्रोध आया और उन्होंने गर्भस्थ शिशु को शाप दे डाला कि तू आठों अंगों से टेढ़ा हो जा। समय से बच्चा पैदा हुआ। वह आठों अंगों से टेढ़ा था। वे ही अष्टावक्र हैं।

अष्टावक्र के पैदा होने के पहले उसकी माता ने अपने पति कहोड़ से कहा था कि कुछ दिन में बच्चा पैदा होगा। उसके लालन-पालन के लिए धन चाहिए। घर निर्धन है। मैं कैसे व्यवस्था करूंगी? कहोड़ राजा जनक की सभा में धन-प्राप्ति की इच्छा से गये। जनक की सभा में बंदी नाम का एक उद्‌भट प्रवक्ता था। उसने कहोड़ को वाद-विवाद में हराकर उन्हें पानी में डुबा दिया।

जब यह समाचार उद्दालक को मिला तब उन्होंने अपनी पुत्री सुजाता से कहा कि यह दुखद घटना अपने नवजात बच्चे से कभी न बताना।

अष्टावक्र अपने नाना को ही पितावत समझते थे। एक दिन वे उनकी गोद में बैठे थे। श्वेतकेतु ने उनका हाथ पकड़कर बाहर खींच दिया और

कहा यह तुम्हारे बाप की गोद नहीं है और स्वयं पिता की गोद में बैठ गया। अष्टावक्र को दुख हुआ। उसने अपनी माता से पूछा कि मेरा पिता कहां है? माता को विवश होकर बताना पड़ा कि राजा जनक की सभा में रहने वाला प्रखर प्रवक्ता पंडित बंदी ने तुम्हारे पिता को वाद-विवाद में परास्त कर पानी में डुबा दिया है।

अष्टावक्र को बंदी के प्रति क्रोध हुआ और वे अपने मामा श्वेतकेतु को साथ लेकर राजा जनक की सभा पहुंचना चाहे। दोनों चल पड़े। जनक की सभा में जाकर अष्टावक्र ने बंदी को ललकारा। अंततः बंदी अष्टावक्र से शास्त्रार्थ में हार गया। अष्टावक्र ने उसे केवल हराया ही नहीं, अपितु जल में भी डुबा दिया और अपने पिता का बदला बंदी से ले लिया।

जब बंदी अष्टावक्र से हार गया था, तब वह उनके सामने नतमस्तक हो गया था, और कहा था कि मैं जल के रक्षक वरुण का पुत्र हूं। वरुण बारह वर्ष चलने वाला यज्ञ कर रहे हैं। उनको विद्वान ब्राह्मणों की आवश्यकता थी। इसलिए मैंने शास्त्रार्थ में ब्राह्मणों को हराकर पानी में डुबाने के बहाने उन्हें वरुण लोक में अपने पिता के पास भेज दिया है। अब वहां का यज्ञ पूरा हो गया है और डुबाये गये सभी ब्राह्मण जल में से निकल कर अपने-अपने घर पहुंच जायेंगे।

इतने में जल में डुबाये गये सभी ब्राह्मण वरुण से पूजित होकर धरती पर आ गये। उनमें अष्टावक्र के पिता कहोड़ भी थे। वे सब ब्राह्मण जनक की सभा में पहुंच गये। कहोड़ ने जनक के सामने अपने पुत्र अष्टावक्र की प्रशंसा की। फिर राजा जनक की आज्ञा लेकर बंदी स्वयं समुद्र में डूब गया।

अष्टावक्र ने अपने पिता की पूजा की और बंदी पर विजय करके अपने पिता कहोड़ तथा मामा श्वेतकेतु के साथ अपने आश्रम पर आ गये। इसके बाद कहोड़ ने अपनी पत्नी के सामने अष्टावक्र से कहा कि तुम समंगा नाम की नदी में प्रवेश करो। पिता की आज्ञा से अष्टावक्र समंगा नदी में जैसे ही प्रवेश किये वैसे तुरंत उनके आठों अंग सीधे हो गये।

इसके बाद लोमश ने युधिष्ठिर से कहा—इसी से समंगा नदी पवित्र हो गयी। इसमें स्नान करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। अतएव तुम भी स्नान, पान और अवगाहन के लिए इस नदी में अपने भाइयों और द्रौपदी सहित प्रवेश करो।

समीक्षा

वनपर्व में पाण्डवों को बारह वर्ष काटना था। उसमें कोई विशेष घटना नहीं है। इसलिए कथाकार ने पाण्डवों को लम्बी तीर्थ यात्राएं करायी हैं और उसके लिए नयी-नयी कहानियां गढ़ी हैं। उपर्युक्त कहानी भी गढ़ी हुई है।

उद्दालक आज के दिल्ली क्षेत्र के निवासी थे जो छांदोग्य उपनिषद् के प्रसिद्ध ऋषि हैं। उनका पुत्र श्वेतकेतु है जिसको सम्बोधित कर उन्होंने पीछे प्रसिद्ध होने वाला वाक्य **तत्त्वमसि**—तत्-त्वम्-असि—वह तू है, कहा है; परंतु वहां कहोड़ और अष्टावक्र की चर्चा नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक की ब्रह्म-सभा, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवादी विस्तार से वर्णित हैं, किंतु वहां अष्टावक्र की छाया भी नहीं है।

अष्टावक्र गर्भ में से ही पिता के वेद-पाठ पर व्यंग्यात्मक वचन कह डाले और उसे कहोड़ सुन भी लिए और उनके शाप से अष्टावक्र आठ अंगों के टेढ़े भी हो गये, क्या यह सब कथन सच हो सकता है? ये सारी बातें असंभव हैं, विश्व-नियम के विरुद्ध हैं, अतएव सर्वथा झूठी हैं।

जनक जैसे ज्ञानी की सभा में बंदी नाम का क्रूर प्रवक्ता रहे, जो उससे हार जाने वाले को पानी में डुबाता रहे और इसको जनक सहते रहें, यह सब असंभव है।

पानी में डुबाये गये ब्राह्मण वरुण लोक चले गये, वरुण का यज्ञ कराने के लिए, और वे सब पुनः वरुण लोक से लौटकर पानी में से निकलकर जनक की सभा में आ गये। ये सारी बातें बच्चों की कहानियों से भी बदतर हैं। ऋग्वेद में वरुण नैतिकता का देवता है, परंतु वह प्राकृतिक-शक्ति है। पुराण काल में वरुण पानी का देवता बना दिया गया। उसी का लाभ उठाकर उक्त कहानी गढ़कर लेखक ने बिना सिर-पैर की बातें लिख डालीं। यह सारा कथन असंभव है।

अष्टावक्र कोई ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न महापुरुष हो सकते हैं, परंतु उन्हें उपनिषद् के उद्दालक और श्वेतकेतु से जोड़ना उचित नहीं है। अष्टावक्र गीता के श्लोकों की भाषा उपनिषद् काल की बिलकुल नहीं है; अपितु आद्य स्वामी शंकराचार्य-काल के बाद की है और उनके अद्वैत वेदांत से पूर्ण ओतप्रोत है।

अष्टावक्र गीता के मूल श्लोकों में न कहीं अष्टावक्र का नाम है और न जनक का। उनमें केवल ज्ञान-वैराग्य की ही बातें हैं। हो सकता है कि अष्टावक्र नाम के वैराग्यवान संत पुरुष ने अष्टावक्र गीता नाम से पुस्तक लिखी हो, अथवा किसी दूसरे वैराग्यवान संत ने लिखकर अष्टावक्र गीता नाम रखा हो। परंतु इन विकल्पों के होते हुए मूल बात में कोई अन्तर नहीं है। इस पुस्तक के वैराग्य-वचन अमोघ हैं। चाहे जिसने लिखा हो, अमृत वचन हैं।

भावनावादी वचन

जगत का उपादान कारण जड़ प्रकृति है और ब्रह्म है, ये दोनों बातें वेदों में आती हैं। पहली बात युक्तियुक्त है, किंतु दूसरी बात भावुकता की है। ब्रह्म स्वयं जगत बन गया, यह भावुकता है और केवल काव्यात्मक कथन है। परंतु कुछ विचारकों ने इस पर बहुत जोर दिया। महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में इसी पर पूरा बल दिया।

ईसा की पांचवीं शताब्दी में होने वाले महामना गौडपाद की रचना माण्डूक कारिका है जो 215 श्लोकों में है। उसमें यही जोर है कि ब्रह्म ही जगत का उपादान कारण है। फिर अंततः माना गया है कि जगत है ही नहीं, केवल ब्रह्म है। जगत भ्रम से दिखता है। इस मत का आद्य स्वामी शंकराचार्य ने विस्तार किया। इस मत को मानने वाले पहले जड़-चेतन का अलग विवेक करते हैं, परंतु वे अंत में जड़-चेतन एक उसी प्रकार कहते हैं जिस प्रकार जल और उसकी तरंगें, पृथ्वी और उससे बने घट एक हैं। वे दिन भर चावल-कंकड़ अलग करते हैं और जब सायंकाल भात बनाना होता है तब दोनों को एक में मिला देते हैं। जड़-चेतन को एक समझना अविद्या है, परंतु वे इसी को विद्या मानते हैं। यद्यपि महामना गौडपाद एक पारखी वचन कहते हैं, परंतु उसका उपयोग नहीं किया जाता। वह यह है—

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समाश्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत् तद् भवति नेतरेत्॥ आगमशास्त्र 3/23॥

अर्थात श्रुतियां भूत (जड़ प्रकृति) और अभूत (ब्रह्म) से समान रूप से सृष्टि का होना मानती हैं; परंतु जो निश्चित और युक्तियुक्त है वही होता

है, अन्य नहीं।

निश्चित और युक्तियुक्त विकारी जड़ प्रकृति से ही सृष्टि होना संभव है, निर्विकार ब्रह्म से नहीं, परंतु इस पर वे ध्यान नहीं देते।

आत्मा एक और व्यापक है, यह कथन भी भावुकता मात्र है। अखंड आत्मा एक और व्यापक होने से स्फूर्ण, क्रिया, प्रवहमान जगत हो ही नहीं सकते। वस्तुतः आत्मा असंख्य हैं, उनका गुण ज्ञान एक है। संख्या में आत्मा अनेक है, गुण में एक है। सभी आत्माओं का एक गुण ज्ञान है।

अद्वैत अमनी दशा है। जब सारे संकल्प शांत हो गये, तब आत्मा शेष रहा। यही अद्वैत स्थिति है। जड़-चेतन एक में मिलाने की भावना अद्वैत नहीं है, अपितु अविद्या है।

इस पुस्तक के लेखक का सिद्धांत अंततः जड़-चेतन अभिन्नवाद है, इसलिए उनके अनेक श्लोक ऐसी भावुकता से निकले हैं, जिन्हें न विवेक से समझा जा सकता है और न समझाया जा सकता है। उनके कारण विवेकी जन इस पुस्तक से लाभ नहीं ले पाते। इसलिए ऐसे भावुकतापूर्ण श्लोकों को छोड़ दिया गया है जिन्हें पाठक प्रकरणों के श्लोकों के क्रमांक में सहज समझ सकते हैं कि ये-ये श्लोक छोड़ दिये गये हैं।

यह भाष्य

प्रीतमनगर कालोनी में रहने वाले अपने मित्र शिवप्रसाद मिश्र ने वर्षों पूर्व परोक्ष रूप में अष्टावक्र गीता पर मेरा ध्यान खींचा था, परंतु आज तक उधर तत्परता नहीं हो सकी थी। विगत दिसम्बर में जब मेरा कार्यक्रम सूरत कबीर आश्रम में था, तब अरविंद भाई ने मेरा ध्यान इस तरफ खींचा। उसके बाद इन दोनों मित्रों बाबू भाई तथा अरविंद भाई के उत्साह से मेरा ध्यान इस तरफ लग गया।

जब विगत एक जुलाई को न्यू अलीपुर कोलकाता प्रेमप्रकाश जी के यहां पहुंचना हुआ, तब दो जुलाई से इसका भाष्य करने लगा, यहां इलाहाबाद कबीर आश्रम में आकर तेईस जुलाई को पूरा हो गया।

इसके लिखने में "खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन बंबई" का मैं आभारी हूं जिसके प्रेस से प्रकाशित मूल सहित पुरानी संक्षिप्त टीका से

मैंने श्लोक तथा भाष्य में सहारा लिया। टीकाकार का नाम पुस्तक में न होने से नाम नहीं लिया जा सकता; परंतु भावना में उनका आभार स्वीकार करता हूं।

पूरी पुस्तक ज्ञान–वैराग्यवर्द्धक है। यह पुस्तक मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त मननीय है। शांति–इच्छुक इस अमृतमय वचन का मनन करें।

गुरुपूर्णिमा
आषाढ़, 2067 विक्रम
25 जुलाई, 2010 ई०

विनम्र
अभिलाष दास

सद्‌गुरवे नमः

अष्टावक्र गीता

पहला प्रकरण

1. कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो॥ 1॥

कथम्, ज्ञानम्-अवाप्नोति, कथम् मुक्तिः-भविष्यति। वैराग्यम्, च, कथम्, प्राप्तम्-एतत्-ब्रूहि, मम, प्रभो।

हे स्वामिन्! स्वरूपज्ञान कैसे प्राप्त होता है, वैराग्य कैसे उदय होता है और मुक्ति कैसे प्राप्त होती है, मुझे बताइये।

भाष्य—शिष्य पूछता है कि हे सद्‌गुरु! आत्मा का ज्ञान, **कथम्-अवाप्नोति**= कैसे प्राप्त होता है, वैराग्य कैसे प्राप्त होता है और मानसिक पीड़ा तथा जन्म-मरण रूप भवव्याधि से कैसे छुटकारा होता है? गुरु उत्तर देते हैं—

2. मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥ 2॥

मुक्तिम्-इच्छसि, चेत्-तात, विषयान्-विष-वत्-त्यज। क्षमा-आर्जव-दया-तोष-सत्यम्, पीयूष-वत्-भज।

हे प्रिय! यदि मुक्ति की इच्छा है तो विषयों को विष के समान समझकर उनका सर्वथा त्याग करो; और क्षमा, सरलता, दया, संतोष तथा सत्य को अमृत के समान समझकर उनका सेवन करो।

भाष्य—**तात**= प्रिय! **चेत्**= यदि, **मुक्तिम्-इच्छसि**= मुक्ति की इच्छा

है, तो विषयों को विष के समान त्याग करो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच विषय हैं। जीवन में इनका पदे-पदे उपयोग है; और इन्हीं के राग में फंसकर मनुष्य पीड़ा-पर-पीड़ा पाता है और जन्म-जन्मांतरों में भटकता रहता है। जिसे मानसिक पीड़ा से सर्वथा छूटने की तथा देह धरने और संसार में भटकने से सर्वथा मुक्त होने की समझ आ जाय, उसे चाहिए कि मन-इंद्रियों को उत्तेजित करने वाले सारे विषयों का त्याग कर दे। केवल शरीर निर्वाह के लिए सरल, सहज, सात्विक, संतुलित भोजन, वस्त्र और आवास ग्रहण करे।

शुद्ध ब्रह्मचर्य का सेवन हुए बिना मोक्ष असंभव है। ब्रह्म का अर्थ है श्रेष्ठ और चर्य का अर्थ है आचरण। अतएव ब्रह्मचर्य का अर्थ है श्रेष्ठ आचरण। श्रेष्ठ आचरण है अपने मन-इन्द्रियों पर पूर्ण विजय। देहाभिमान, मैथुन, ममता तथा समस्त उत्तेजनाओं का सर्वथा त्याग किये बिना दुख से छुटकारा नहीं हो सकता।

मन-इंद्रियों को उत्तेजित करने वाले सारे विषयों को विष के समान त्याग देना और जीवनपर्यंत त्यागते रहना साधक का पहला परम कर्तव्य है। दूसरी बात क्षमा, दया, सरलता, संतोष और सत्य को अमृत स्वरूप समझकर उनका निरंतर आचरण करना, **पीयूष-वत्-भज** =अमृत के समान पान करना, ग्रहण करना चाहिए।

1. क्षमा—अपने अपराधी से बदला लेने की भावना तथा क्रिया न करना। जो व्यक्ति यह सोचेगा कि अमुक ने मुझे बुरा कहा, मेरी हानि की, मेरा अपमान किया और ऐसी भावना रखकर उससे वैर बनाये रखेगा, उसको शांति नहीं मिल सकती। जो अपने अपराधी से बदला लेने की भावना मन से निकाल देगा, अपितु उसके प्रति हित कामना रखेगा, उसको शांति मिलेगी। अतएव पूर्ण क्षमा का पालन करना चाहिए।

2. दया—दुखियों पर करुणा करना। बन सके तो उनका सहयोग करना। दयाहीन व्यक्ति का हृदय कठोर होता है और कठोर हृदय व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। अतएव कल्याणार्थी को प्राणिमात्र के प्रति दया-करुणा का भाव रखना चाहिए।

3. आर्जव—बच्चे की तरह सरल हृदय होना साधक का ही नहीं मानव मात्र का उत्तम लक्षण है। अकड़बाज और कुटिल मनुष्य साधना में सफल नहीं हो सकता। अतएव शांति-इच्छुक को सरल हृदय होना

चाहिए।

4. संतोष—जो कुछ जब प्राप्त हो उतने में संतुष्ट रहने वाला ही मन को स्ववश रखकर सुखी हो सकता है। शुभाशुभ सभी क्षेत्रों में तृष्णा त्याग करना साधना का उच्चतम स्वरूप है। अतएव हर दशा में संतोष रखना साधक का परम कर्तव्य है।

5. सत्य—सत्य भाव, सत्य वचन, सत्य क्रिया तथा सत्स्वरूप में स्थिति अंतिम साधना है। आज तक हम असत्य का आधार लेकर भटकते रहे। देहादि सभी उपलब्ध अनात्म वस्तुएं छूटने वाली हैं, क्षणिक हैं, परिवर्तनशील हैं, अंततः मेरे साथ नहीं हैं। अतएव उनका मोह छोड़कर नित्य प्राप्त निजस्वरूप का स्मरण और स्थिति ही परम सत्य की प्राप्ति है।

उपर्युक्त पांचों सद्गुणों को अमृत समझकर इनका निरंतर आचरण करे।

3. न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 3॥

न, पृथिवी, न, जलम्, न-अग्निः-न, वायुः-द्यौः-न, वा, भवान्। एषाम्, साक्षिणम्-आत्मानम्, चिद्-रूपम्, विद्धि, मुक्तये।

मुक्ति प्राप्ति के लिए यह समझो कि तुम न पृथ्वी हो, न जल हो, न अग्नि हो, न वायु हो और न आकाश हो; अपितु इन सबको जानने वाले इनसे सर्वथा भिन्न और इनके साक्षी हो।

भाष्य—**मुक्तये** =मुक्ति प्राप्ति के लिए, **भवान्**= तुम, **विद्धि**= जानो, समझो कि तुम पृथ्वी आदि जड़तत्त्वों तथा जड़ प्रकृति से सर्वथा भिन्न, इनके साक्षी शुद्ध-बुद्ध निर्विकार चेतन हो। महाभारतकार भी कहते हैं, "जड़ तत्त्वों से विश्व का सिर्जन होता है। इन पंच तत्त्वों के कार्य-पदार्थों के मोह से जो अपने को पूर्ण छुड़ा लेता है, वह संसार से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त होता है।"[1]

---

1. विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम्॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का समुच्चय जड़ प्रकृति है जो समस्त निर्मित पदार्थों का कारण है। हम शरीरादि निर्मित पदार्थों के मोह में बंधे हैं, और शरीर धारण करके दुख-वन में भटकते हैं। जिसे इस भवचक्र से छूटकर परम शांतिमय निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा हो, वह समस्त दृश्यमान प्रपंच का मोह छोड़कर अपने आप में लीन हो।

4. यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ 4॥

यदि, देहम्, पृथक्कृत्य, चिति, विश्राम्य, तिष्ठसि। अधुना-एव, सुखी, शान्तः, बन्ध-मुक्तः, भविष्यसि।

यदि तुम देह का अभिमान छोड़कर अपने चेतन स्वरूप में विश्राम लेकर स्थिर हो जाओ तो इसी समय सुखी और शांत होकर बंधनों से मुक्त हो जाओगे।

भाष्य—यदि देहम् पृथक्कृत्य= यदि देह को अपने से अलग समझ लो और इस मल-पिण्ड का अभिमान छोड़ दो और, **चिति**= अपने चेतन स्वरूप में, **विश्राम्य**= लीन होकर, **तिष्ठसि**= स्थित हो जाओ तो; **अधुना-एव**= अभी ही, **सुखी शान्तः**= सुखी और शांत हो जाओ और, **बन्ध-मुक्तः भविष्यसि**= भवबंधनों से मुक्त हो जाओगे।

देह का अभिमान सर्वथा विलीन होने पर मन के संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं और संकल्प-विकल्प शांत होने पर शाश्वत सुख-शांति आ जाती है जिसमें मन की पीड़ा रह ही नहीं जाती। यही बंधनों से मोक्ष है। मन के संकल्प-विकल्प एवं कुतर्क ही भवसागर हैं। इनके नष्ट हो जाने पर सदैव मोक्ष सुख है।

5. न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥ 5॥

न, त्वम्, विप्र-आदिकः, वर्णः, न-आश्रमी, न-अक्ष-गोचरः। असङ्गः-असि, निराकारः, विश्व-साक्षी, सुखी, भव।

(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अ० 51, श्लोक 13)

न तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हो, न तुम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी हो, और न तुम आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि इंद्रियों से ग्रहण किये जाने वाले हो, अपितु तुम अकेला, अदृश्य और विश्व के द्रष्टा हो। ऐसा समझकर सुखी हो जाओ।

भाष्य—हम अपने को देह मानते हैं, ब्राह्मणादि, हिन्दू-मुसलमानादि मानते हैं, योग्य-अयोग्य, धनी-निर्धन, विद्वान-अविद्वान मानते हैं; और देहाभिमान पालकर सारा मानसिक रोग बटोरते और उसी में जलते हैं। यदि हम सद्गुरु के उपदेश से यह गहराई से समझ जायं कि हम असंग हैं, अकेला एवं अद्वितीय हैं, रूप-रंग तथा आकृति-विहीन शुद्ध चेतन सत्ता मात्र हैं, हम मन-इंद्रियों के सहारे संसार को देख-देखकर तथा जान-जान कर और उसमें उलझकर जल रहे हैं किंतु अंत में दुख के अलावा कुछ हाथ में नहीं आता, तो सारे जड़-दृश्य का मोह त्याग कर स्थिर सुख के धनी हो जायं। अनात्म वस्तुओं का मोह छूट जाने पर आत्मविश्राम का अनंत सुख मिलता है।

6. धर्माधर्मो सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा॥ 6॥

धर्म-अधर्मः, सुखम्, दुःखम्, मानसानि, न, ते, विभो। न, कर्ता-असि, न, भोक्ता-असि, मुक्त, एव-असि, सर्वदा।

हे शक्तिशाली चेतन! धर्म-अधर्म, सुख-दुख मन के व्यापार हैं। न तू स्वरूपतः कर्ता है और न भोक्ता है। तू तो तत्त्वतः सदैव मुक्त ही है।

भाष्य—धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सुख-दुख, **मानसानि**= मन के आयाम के भीतर हैं। हे **विभो**= शक्तिशाली चेतन, **न ते**= तेरे नहीं हैं। तेरे स्वरूप में न कर्तापन है और न भोक्तापन है। **तू तो सर्वदा**= सब समय, **मुक्त एव असि**= मुक्त ही है।

सद्गुरु शिष्य को विभो कहकर उसके सच्चे स्वरूप की याद दिलाते हैं। विभु का अर्थ शक्तिशाली एवं सर्वोपरि होता है। चेतन आत्मा ज्ञान-शक्ति संपन्न सर्वोपरि है। सद्गुरु कहते हैं, शक्तिशाली चेतन! तू अपने सच्चे स्वरूप की याद कर। तू देहाभिमानी बनकर क्यों रो रहा है? तू अपने शुद्ध-बुद्ध चेतन स्वरूप का स्मरण कर। तू तो सदैव असंग एवं मुक्त स्वरूप है।

7. एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ 7॥

एकः, द्रष्टा–असि, सर्वस्य, मुक्त–प्रायः–असि, सर्वदा। अयम्–एव, हि, ते, बन्धः, द्रष्टारम्, पश्यसि–इतरम्।

तू अद्वितीय है, सबका द्रष्टा है और सर्वदा-सर्वथा मुक्त है। तेरा यही बंधन है कि दूसरे को अपना द्रष्टा मानता है।

भाष्य—एकः द्रष्टा असि सर्वस्य=तू अद्वितीय सबका द्रष्टा है, **सर्वदा प्रायः मुक्त असि**=सब समय सर्वथा मुक्त है। **अयम् एव हि ते बन्धः**=यह ही तेरा बंधन है कि, **इतरम्**=दूसरे को, **द्रष्टारम् पश्यसि**=द्रष्टा समझता है।

सद्गुरु कहते हैं कि तू अद्वितीय है, **एकः** है, असंग है। सब आत्मा अपने में अद्वितीय हैं। यह चेतन आत्मा ही तो सबका द्रष्टा है। यही सबको देखता और जानता है। जानी गयी वस्तुएं जड़ हैं और जानने वाला चेतन है। चेतन सर्वोच्च है। चेतन-चेतन सजाति हैं। चेतन स्वभाव से सर्वदा और सर्वथा मुक्त हैं। प्रायः का अर्थ होता है अधिकतर और सर्वथा भी। यहां सर्वथा अर्थ है।

ग्रंथकार का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथन है—**अयम् एव हि ते बन्धः द्रष्टारम् पश्यसि इतरम्**। तुम्हारा यही बंधन है जो तुम अपने से अलग अपना द्रष्टा समझते हो। याद रखो, तुम्हारे ऊपर कोई मालिक नहीं है। तुम स्वयं अपने मालिक हो। चाहे अपने को डुबाओ और चाहे उबारो, तुम्हारे हाथ में है।

8. अहं कर्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहंकर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ 8॥

अहम्, कर्ता–इति–अहम्–मान–महा–कृष्ण–अहि–दंशितः। न–अहम्–कर्ता–इति, विश्वास–अमृतम्, पीत्वा, सुखी, भव।

'मैं कर्ता हूं' इस मान्यता के महा अहंकार रूपी काले सर्प से तुम डस लिए गये हो। इसलिए 'मैं कर्ता नहीं हूं' इस विश्वास रूपी अमृत को पीकर सुखी हो जाओ।

भाष्य—आत्मा शुद्ध-बुद्ध है, असंग है, उसमें जगत का भान नहीं है। वह तो देहोपाधि में पड़ा होने से मन-इंद्रियों का प्रयोग करता है और अनात्म संसार को जान-जानकर उसमें राग-द्वेष मानता है और अपने शुद्ध स्वरूप की भूल से अपने को कर्ता मान लेता है।

मैं देह हूं, मेरी देह है, मेरे घर-परिवार हैं, मेरे वर्ण, जाति, संप्रदाय और आश्रम हैं, मैं इतना योग्य हूं, मैंने यह सब किया है और यह करना है—यह सब अहंता-ममता विषधर काला सर्प है। इसी से मैं अनादिकाल से डसा गया हूं; और इसी कारण इस भवाटवी संसार में मैं भटक रहा हूं।

ग्रंथकार कहते हैं कि हे आत्मदेव! तुम स्वरूपतः शुद्ध हो, असंग हो, संसार से परे हो। तुम्हारे में न मन है, न इंद्रियां हैं और न जगत है। इसलिए तुम न कर्ता हो और न भोक्ता हो। इस सत्य को समझकर इस पर विश्वास करो। यह विश्वास अमृत है। इसका पान कर तुम संसार की तृष्णा, अहंता-ममता और मानसिक जलन से सर्वथा छूट कर सदा के लिए सुखी हो जाओगे।

9. एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥ 9॥

एकः, विशुद्ध-बोधः-अहम्-इति, निश्चय-वह्निना। प्रज्वाल्य-अज्ञान-गहनम्, वीत-शोकः, सुखी, भव।

"मैं अद्वितीय निर्मल ज्ञानस्वरूप हूं", इस निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान रूपी जंगल को जलाकर शोक-मुक्त और सुखी हो जाओ।

भाष्य—अहम्=मैं, **एकः**=अद्वितीय, **विशुद्ध बोधः**=निर्मल ज्ञान स्वरूप हूं, **इति निश्चय वह्निना**=इस निश्चय रूपी अग्नि से, **अज्ञान गहनम्**=अज्ञान रूपी जंगल को, **प्रज्वाल्य**=जलाकर, **वीतशोकः सुखी भव**=शोक से मुक्त होकर सुखी हो जाओ।

"मैं देह हूं, देह मेरी है" यह निश्चय घोर अज्ञान वन है जिसमें जीव अपने को कर्ता-भोक्ता मानकर अनादिकाल से भटक रहा है। इस अज्ञान-वन को भस्म करने की अग्नि है "मैं शुद्ध चेतन हूं, असंग हूं, अविकार हूं, अकर्ता-अभोक्ता और सर्वथा निर्मल हूं।" इस बोध में जो निरंतर रहता है

वह शोक से पार होकर अनंत सुख में विश्राम करता है।

10. मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥ 11॥

मुक्त-अभिमानी, मुक्तः, हि, बद्धः, बद्ध-अभिमानी-अपि। किंवदंति-इह, सत्यः-इयम्, या, मतिः, सा, गतिः-भवेत्।

जो मानता है कि मैं मुक्त हूं, वह मुक्त है और जो मानता है कि मैं बद्ध हूं, वह बद्ध है। यह जनश्रुति सत्य ही है कि "जैसी मति वैसी गति।"

भाष्य—"जैसी मति वैसी गति" यह प्रसिद्ध किंवदंति है, जनश्रुति है। इस जनश्रुति का उदाहरण देकर ग्रंथकार कहते हैं कि जो यह मानेगा कि मैं बंधा हूं वह अभागा बंधा ही रहेगा और जो मानेगा कि मैं मुक्त हूं, वह मुक्त रहेगा।

कोई अपने अहंकार को प्रदर्शित करने के लिए कह सकता है कि मैं मुक्त हूं। इसका कोई महत्त्व नहीं है। मानना मन से होता है जो भीतरी है और सत्य है। जो भीतर सब समय समझता है कि मैं मुक्त हूं वह मुक्त है और जो समझता है कि मैं बद्ध हूं वह बद्ध है।

साधक अपने चेतन स्वरूप के लक्षण को समझकर उस भावना में तदाकार हो। अपना चेतन स्वरूप जड़ से सर्वथा परे, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। इसी भावाकार वृत्ति में साधक को जीवन बिताना चाहिए।

11. आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निस्प्रहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव॥ 12॥

आत्मा, साक्षी, विभुः, पूर्णः, एकः, मुक्तः-चित्-अक्रियः। असङ्गः, निस्पृहः, शान्तः, भ्रमात्-संसारवान्-इव।

आत्मा साक्षी है, शक्तिमान है, पूर्ण है, अकेला है, मुक्त है, चेतन है, निष्क्रिय है, असंग है, इच्छा रहित है, शांत है, परंतु भ्रम-वश संसारी की तरह हो गया है।

भाष्य—आत्मा जड़ प्रकृति तथा उसके कार्य-व्यापार का साक्षी है।

विभु है, अर्थात शक्तिमान है। पूर्ण है, उसमें कोई कमी नहीं है। एक है, हर आत्मा अकेला है। वह स्वभाव से ही मुक्त है। चित् है, चेतन है। अक्रिय है। असंग है। उसके साथ अन्य कुछ नहीं है। निस्पृह एवं निष्काम है। शांत है। ऐसा कल्याण स्वरूप आत्मा **भ्रमात्**= भ्रम-वश, **संसारवान-इव**= संसारी की तरह लगता है।

जैसे सम्राट विक्षिप्त हो जाने से अपने को भिक्षु माने, वैसे पूर्णकाम आत्मा अपने को दुखी मानता है।

12. कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥13॥

कूटस्थम्, बोधम्-अद्वैतम्-आत्मानम्, परिभावय। आभासः-अहम्, भ्रमम्, मुक्त्वा, भावम्, बाह्यम्-अथ-आन्तरम्।

मैं बाहर हूं, भीतर हूं और जो कुछ प्रतीत होता है वह मैं हूं, इस भ्रम और भावना से मुक्त होकर बारंबार यह विचार करो कि मैं अविचल, ज्ञान-स्वरूप और अकेला हूं।

भाष्य—बाह्यम् अथ आन्तरम्= बाहर और भीतर तथा, **आभासः**= प्रतीतमान देहादि, **अहम्**= मैं हूं, इस, **भ्रमम् भावम्**= भ्रम और भावना से, **मुक्त्वा**= मुक्त होकर, **आत्मानम्**= आत्मा का, **परिभावय**= बारंबार विचार करो कि वह, **कूटस्थम्**= अविचल, **बोधम्**= ज्ञान स्वरूप और, **अद्वैतम्**= अद्वितीय है।

प्रतीतमान देहादि आभास को अपना स्वरूप मत मानो और यह भी कल्पना तथा भ्रम मत करो कि मैं बाहर हूं कि भीतर हूं। बाहर-भीतर कथन देहोपाधि से है। अपना शुद्धस्वरूप चेतन न बाहर है और न भीतर। वह तो अविचल है, ज्ञान स्वरूप है और निराला एवं असंग है। इसी भाव में मन को हर क्षण रमाओ।

एक बार स्वरूपज्ञान हो जाने से भवबंधन नहीं कटता, अपितु स्वरूपभाव की निरंतर आवृत्ति एवं स्मरण करने से जड़भास मिटकर स्वरूपस्थिति होती है।

13. देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव॥ 14॥

देह-अभिमान-पाशेन, चिरम्, बद्धः-असि, पुत्रक। बोधः-अहम्, ज्ञान-खड्गेन, तत्-निष्कृत्य, सुखी, भव।

हे पुत्र! तू देह की अहंता-ममता के बंधन में अनादिकाल से बंधा है। "मैं सबसे सर्वथा भिन्न वह सत्ता हूं जिसमें सबका बोध होता है"; इस स्वरूपज्ञान रूपी तलवार से देहाभिमान-बंधन को काटकर उसे निकाल दे और सुखी हो जा।

भाष्य—सद्गुरु यहां शिष्य को प्यार की दृष्टि से पुत्रक कहते हैं। **पुत्रकः**—छोटा पुत्र, बालक, बच्चा, तात, वत्स; यह वात्सल्य को प्रकट करने वाला शब्द है। देह का अभिमान सबसे बड़ा बंधन है। स्वरूपज्ञान की तलवार से ही यह जड़मूल से कटकर उच्छिन्न हो सकता है। देहाभिमान के पूर्ण विनष्ट होने पर ही जीवन्मुक्ति का आनंद मिल सकता है। गुरु शिष्य को प्यार से कहते हैं, हे पुत्र! देहाभिमान त्यागकर कृतार्थ हो जाओ।

14. निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि॥ 15॥

निःसंगः, निष्क्रियः-असि, त्वम्, स्वप्रकाशः, निरंजनः। अयम्-एव, हि, ते, बन्धः, समाधिम्-अनुतिष्ठसि।

तुम निःसंग हो, निष्क्रिय हो, स्वतः ज्ञानस्वरूप और माया-मल से सर्वथा रहित हो। तुम्हारा मात्र यही एक बंधन है जो समाधि लगाकर किसी अन्य के दर्शन करना चाहते हो।

भाष्य—चित्तवृत्ति की निवृत्ति के लिए समाधि लगाना ठीक है। वृत्ति के पूर्ण समाप्त होने पर स्वयं आत्मा रह जाता है। परंतु यदि समाधि लगाकर किसी दूसरे परमात्मा के दर्शन पाने की लालसा है तो यह भ्रम है। ग्रंथकार कहते हैं कि हे चेतन! तू स्वयं असंग, अकेला, निष्कंप, निर्मल और पूर्ण है। अतएव अपने में तृप्त रह। तू समाधि लगाकर किसे पाना चाहता है? श्रुति कहती है "द्वितीयाद् वै भयम् भवति (बृ० उ० 1, 4,

2)।" द्वैत से निश्चित भय उत्पन्न होता है।

15. निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाध बुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः॥ 17॥

निरपेक्षः, निर्विकारः, निर्भरः, शीतल-आशयः। अगाध, बुद्धिः-अक्षुब्धः, भव, चिन्मात्र-वासनः।

तुम स्वयं पूर्ण, निर्मल, ठोस, शांति के स्थान, अगाध ज्ञानस्वरूप तथा प्रकंप-रहित हो। अतः चेतन मात्र में स्थित हो।

भाष्य—जो अन्य की अपेक्षा-आवश्यकता से रहित है वह निरपेक्ष है, पूर्ण है। जिसमें कोई मल नहीं है वह निर्विकार है। जो स्वतः है, ठोस है वह **निर्भरः** है। जो शीतलता का आशय, शांति का स्थान है, वह **शीतल-आशय** है। मूल में बुद्धि का प्रयोग है उसे ज्ञान के अर्थ में लेना चाहिए। चेतन अगाध ज्ञान का कोश है। जो निष्कंप है वह अक्षुब्ध है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! तेरा आत्म स्वरूप इस तरह है। अतः **चिन्मात्र वासनः भव**=चेतन मात्र में निवास कर। **वासनन्**=निवास करना, टिकना। **चिन्मात्र-वासनः**=चेतन मात्र में स्थित रहो। अपने चेतन स्वरूप में स्थित होओ।

16. साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ 18॥

साकारम्-अनृतम्, विद्धि, निराकारम्, तु, निश्चलम्। एतत्-तत्त्व-उपदेशेन, न, पुनः-भव-सम्भवः।

आकार ग्रहण करने वाली वस्तुओं को झूठी जान और जो आकार-विहीन है उस चेतन आत्मा को अविनाशी समझ। इतना आत्म-तत्त्व का उपदेश ग्रहण कर लेने से पुनः देहधारण करने की संभावना नहीं रह जायेगी।

भाष्य—अनृत-असत्य-झूठ दो प्रकार का होता है। एक वह है जो कभी न हो; जैसे खरगोश के सींग, आकाश के फूल, हथेली के बाल; और दूसरा असत्य वह है जो अभी सच हो, परंतु कुछ समय में झूठ हो जाय

जैसे देह, परिवार, मकान तथा निर्मित वस्तुएं।

ग्रंथकार कहते हैं कि जितनी निर्मित वस्तुएं हैं वे आज हैं और कल नहीं रह जायेंगी। निर्मित वस्तुएं आकार वाली हैं। उन्हीं में हमारा मोह है और वे रहने वाली नहीं हैं। सबका सम्बन्ध छूट जायेगा। चेतन आत्मा की कोई आकृति नहीं है। वह अनिर्मित, स्वतः, निर्विकार, चेतन मात्र है। वही मैं हूं। उससे अपना कभी वियोग नहीं है। इतना ही तत्त्व-उपदेश है, सच्चाई की सीख है कि दृश्यवान अनात्म वस्तुओं का मोह छोड़कर अपने आपमें स्थित रहो, फिर देह धरने और छोड़ने की झंझट नहीं रहेगी।

बाहरी पदार्थों के मोह में खिंच करके तुम संसार में आते और देह धारण कर भटकते हो। अनात्म का मोह सर्वथा छोड़ दो; बस स्वरूपस्थ।

दूसरा प्रकरण

17. अहो निरंजनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनेव विडम्बितः॥ 1॥

अहो, निरंजनः, शान्तः, बोधः-अहम्, प्रकृतेः, परः। एतावन्तम्-अहम्, कालम्, मोहेन-एव, विडम्बितः।

आश्चर्य है, मैं जड़-प्रकृति से सर्वथा परे, ज्ञानस्वरूप, निर्मल और शांतस्वरूप होते हुए इतने समय से—अनादिकाल से जड़ अनात्म वस्तुओं के मोह से ही ठगा जाता और पीड़ित रहा।

भाष्य—आश्चर्य है, मेरा स्वरूप ऐसा है जिसमें सबका बोध होता है। वह ज्ञानमय है, निर्मल और परम शांत है; परंतु, **एतावन्तम् कालम्**= इतने समय तक, अनादिकाल से, **मोहेन एव विडंबितः**= अनात्म वस्तुओं के मोह में पड़कर स्वयं को ठगाता रहा और पीड़ा भोगता रहा। यह चेतन पुरुष किस लाभ के लिए इस संसार में देह धारण कर भटकता है? लाभ तो कुछ नहीं है, केवल पीड़ा भोगना पड़ता है।

18. सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥ 3॥

स-शरीरम्-अहो, विश्वम्, परित्यज्य, मया-अधुना। कुतश्चित्-कौशलात्-एव, परमात्मा, विलोक्यते।

अहो, मैं अब शरीर सहित संसार को त्यागकर थोड़े विवेक से ही परमात्मा को देख रहा हूं।

भाष्य—**मया अधुना**= मेरे द्वारा अब, **स-शरीरम् विश्वम् परित्यज्य**= शरीर सहित संसार का त्याग हो गया है। **कुतश्चित्**= किसी, **कौशलात् एव**= कुशलता एवं निपुणता से ही-थोड़े विवेक से ही,

परमात्मा विलोक्यते= परमात्मा दिख रहा है।

यहां परमात्मा आत्मा है। दिखना है अपने आपकी असंगता का अनुभव। जब विवेक से शरीर और संसार को अस्वीकार दिया गया, तब स्वयं शेष रह गया। वही परमात्मा है। अपनी असंगता में हर समय मस्त रहना परमात्म-दर्शन है।

19. द्वैत मूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः॥ 16॥

द्वैत, मूलम्-अहो, दुःखम्, न-अन्यत्-तस्य-अस्ति, भेषजम्। दृश्यम्-एतत्-मृषा, सर्वम्-एकः-अहम्, चिद्-रसः-अमलः।

अहो, द्वैत ही दुख की जड़ है। उसके निवारण के लिए दूसरी औषध नहीं है। यह सारा जड़ दृश्य झूठा है और मैं अकेला, निर्मल अमृत चेतन हूं (यह बोध ही इसकी औषध है)।

भाष्य—गाढ़ी नींद में मैं अकेला रहता हूं, इसलिए वहां मेरे पास कोई दुख नहीं रहता। समाधि में अकेला रहता हूं, इसलिए वहां कोई दुख नहीं रहता। मेरे सामने जैसे ही दूसरा उपस्थित होता है, वैसे दुख शुरू होता है। मन द्वैत बनाता है। द्वैत दुख है। द्वैत रखकर कोई दुख से रहित नहीं हो सकता।

इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि, **एतत् सर्वम् दृश्यम् मृषा**= यह सारा जड़ दृश्य व्यर्थ है, झूठा है और, **अहम् एकः अमलः चिद् रसः**= मैं अकेला, निर्मल अमृत चेतन हूं।

जड़ दृश्य निरंतर परिवर्तित होता हुआ भी अपने में अनादि-अनंत है, नित्य है; परंतु वह मेरे स्वरूप में नहीं है। मैं तो अकेला हूं। मेरे में द्वैत है ही नहीं। मैं निर्मल हूं, चिद-रस हूं, चैतन्य-रस से पूर्ण हूं, अमृत हूं।

द्वैत दुख की जड़ है। इसके निवारण के लिए एक ही उपाय है अनात्म जड़-दृश्य को अस्वीकार देना। अंततः वह छूटेगा ही; अतएव पहले से उसे अस्वीकार कर सुखी हो जाओ।

20. बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥ 17॥

बोध-मात्रः-अहम्-अज्ञानत्-उपाधिः, कल्पितः, मया। एवम्, विमृशतः, नित्यम्, निर्विकल्पे, स्थितिः-मम।

"मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं" इस सच्चाई का स्मरण न होने से मेरे द्वारा देह-गेहादि सम्बन्धित जड़-दृश्यों के प्रति अहंता-ममता की कल्पना होती है; ऐसा नित्य विचार करते हुए मेरी निर्विकल्प स्थिति है।

भाष्य—मैं अपने स्वरूपज्ञान में नहीं रहता हूं, इसलिए देह-गेह, नाम-रूपादि संबंधित अनात्म वस्तुओं में अहंता-ममता की कल्पना करता हूं और दुखी हो जाता हूं। **एवं**=अतएव, इस सच्चाई का, **नित्यम् विमृशतः**=नित्य विचार करते रहने से, **मम निर्विकल्पे स्थितिः**=मेरी निर्विकल्प स्थिति रहती है।

सावधानी हटी, दुर्घटना घटी। आत्मा को भूले और अनात्मा में मोह हुआ। **अहम् बोध मात्रः**=मैं केवल बोध स्वरूप-ज्ञान स्वरूप हूं। इसके, **अज्ञानात्**=अज्ञान से, विस्मरण से, **मया**=मेरे द्वारा, **उपाधिः**=सम्बन्धित देह-गेहादि नाम-रूपादि, **कल्पित**=कल्पित हैं, अहंता-ममता जुड़ी है जो दुख की जड़ है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस सच्चाई का हम निरंतर ध्यान रखते हैं, इसलिए सारी अहंता-ममता छोड़कर निर्विकल्प स्थिति में रहते हैं।

जो दुख को देख लेगा, वह दुख में नहीं पड़ेगा। अहंता-ममता दुख है, यह देख लेना और निरंतर देखते रहना बड़ी बात है। जो अपने को अहंता-ममता से अलग रखेगा, वह संकल्प-विकल्प के दुख से मुक्त निर्विकल्प स्थिति में रहकर सुखी रहेगा।

21. अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया॥ 18॥

अहो, मयि, स्थितम्, विश्वम्, वस्तुतः, न, मयि, स्थितम्। न, मे, बन्धः-अस्ति, मोक्षः, वा, भ्रान्तिः, शान्ता, निराश्रया।

अहो, मेरे में गूंजता संसार वस्तुतः मेरे में नहीं है। इसलिए स्वरूपतः मेरे में बंधन नहीं है, अतः मोक्ष भी नहीं है। निराधार भ्रांति शांत हो गयी।

भाष्य—संसार जड़ प्रकृति का प्रपंच है और वह मेरी आत्मा से सर्वथा पृथक है। उसमें अहंता-ममता करके और नाना मान्यताएं बनाकर

हम मन में संकल्प-विकल्प करते हैं। अतएव यह संकल्प-विकल्प ही हमारे में संसार उपस्थित करता है। वस्तुतः संसार हमारे में है ही नहीं। **मयि स्थितम् विश्वम् वस्तुतः न मयि स्थितम्**= मेरे में स्थित संसार वस्तुतः मेरे में स्थित नहीं है। मैं संकल्प-विकल्प करता हूं, इसलिए संसार मेरे में उपस्थित लगता है। संकल्प-विकल्प छोड़ दूं, तो संसार मेरे पास है ही नहीं। जब स्वरूपतः मेरे में संसार नहीं है तब बंधन कहां और जब बंधन नहीं है तो मोक्ष कैसा?

वस्तुतः अनात्म वस्तुओं में मेरी अहंता-ममता है और उन्हीं से उत्पन्न संकल्प-विकल्प हैं। वे ही मेरे बंधन हैं। अहंता-ममता छोड़ें और संकल्प-विकल्पों को छोड़ें, फिर अलग से मोक्ष प्राप्त करना नहीं रहेगा।

भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया= भ्रांति आश्रयहीन होने से बोध होने पर शांत हो गयी। भ्रांति थी कि मेरे में जगत है। अपने असंग शुद्ध चेतन स्वरूप का बोध होने पर पता लग गया कि देह-गेहादि जड़ जगत मेरे में है ही नहीं। हम अपने शुद्ध स्वरूप की भूल से अनात्म वस्तुओं को मान-मानकर उनमें उलझे थे। मेरी भ्रांति आश्रयहीन थी, निराधार थी। अतएव मैं सारी अहंता-ममता तथा संकल्प-विकल्प छोड़कर शांत हो गया हूं।

याद रखें, देहादि अनात्म वस्तुओं की अहंता-ममता और उनसे उत्पन्न संकल्प-विकल्प हमारे बंधन हैं। इन्हें छोड़ देने पर अलग से मोक्ष प्राप्त करना नहीं है। संकल्पों का त्याग ही मोक्ष है।

22. अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
आरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥ 21॥

अहो, जन-समूहे-अपि, न, द्वैतम्, पश्यतः, मम। आरण्यम्-इव, संवृत्तम्, क्व, रतिम्, करवाणि-अहम्।

अहो, प्राणियों की भीड़ में भी मुझे द्वैत नहीं दिखता; क्योंकि वह तो घनघोर जंगल है। मैं उसमें क्या मोह करूं?

भाष्य—प्राणी असंख्य हैं। उनके लिए हित-कामना है: किंतु निरंतर तो अपनी अद्वैत स्थिति एवं असंग दशा पर ध्यान रखना है। देखने पर द्वैत सामने होता है। देखना बंद करने पर अपने आप अद्वैत रह जाता है। अपनी निराधार एवं असंग दशा ही अद्वैत है।

प्राणियों का समूह **आरण्यम् इव संवृत्तम्**= सघनता से ढके हुए वन की तरह है। **क्व रतिम् करवाणि अहम्**= मैं उसमें क्या मोह करूं? मोह के कारण ही तो आज तक भटक रहा हूं। अतएव अब कहीं भी मोह नहीं करना है।

23. नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा॥ 22॥

न-अहम्, देहः, न, मे, देहः, जीवः, न-अहम्-अहम्, हि, चित्। अयम्-एव, हि, मे, बन्धः आसीत्-या, जीविते, स्पृहा।

मैं न देह हूं, न देह मेरी है, जीव भी मैं नहीं हूं। मैं तो शुद्ध चेतन हूं। यह ही मेरा बंधन था जो मुझे जीने की इच्छा थी।

भाष्य—मैं देह नहीं हूं और देह मेरी नहीं है। देह तो जड़तत्त्वों की रचना है। ग्रंथकार कहते हैं कि मैं जीव भी नहीं हूं। यहां जीव का तात्पर्य है साधारण प्राणी। श्री पूरण साहेब ने भी जीवमुख की बात न मानने की राय दी है जो कट्टर जीववाद थे। यहां भी जीव का अर्थ है भटका हुआ। वैसे ब्रह्मवादी भी कहते हैं "जीवो ब्रह्मैव नऽपरः।" जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं।

ग्रन्थकार कहते हैं **अहम् हि चित्**= मैं निश्चय चेतन हूं। अर्थ हुआ कि मैं साधारण जीव नहीं हूं, अपितु शुद्ध-बुद्ध चेतन हूं। **अयम् एव हि मे बन्धः**= इतना ही मेरा बंधन, **आसीत्** था, **या जीवते स्पृहा**= जो जीने की इच्छा थी।

जब मैं देह नहीं हूं और देह मेरी नहीं है, मैं शुद्ध असंग चेतन हूं, तब देह में रहने की इच्छा क्यों? देह में रहकर धक्के के सिवा क्या मिलता है? जीने की इच्छा समाप्त होते ही मोक्ष है। लेकिन यह कोई आत्महत्या का प्रोग्राम नहीं है, अपितु पूर्ण निष्काम दशा है जिसमें जीने-मरने दोनों की इच्छा समाप्त हो जाती है।

तीसरा प्रकरण

24. अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥ 1॥

अविनाशिनम्-आत्मानम्-एकम्, विज्ञाय, तत्त्वतः। तव-आत्मज्ञस्य, धीरस्य, कथम्-अर्थ-अर्जने, रतिः।

मैं अविनाशी असंग आत्मा हूं, यह तथ्यतः जानकर भी तुम धीरवान आत्मज्ञानी की धन कमाने में क्यों आसक्ति है?

भाष्य—जो आत्मज्ञानी है, जो तत्त्वतः समझता है कि मैं असंग आत्मा हूं और स्वरूपलीनता जीवन का फल है और जो धीरवान है, अपनी बुद्धि को संसार की झंझा से विचलित नहीं होने देता, वह धन कमाने में क्यों आसक्त होवे!

जीवन-निर्वाह के लिए धन कमाना ठीक है, परंतु धन कमाने में आसक्ति होना बुरा है। आसक्त मनुष्य धन का गुलाम बना जीवन व्यर्थ खो देता है। जीवन के लिए धन है, धन के लिए जीवन नहीं है। धन की कमाई उतनी ही करें जिससे अपने साधन-भजन का समय मिल सके और शांति से रह सकें। यदि धन जीवन का लक्ष्य हो गया तो जीवन अशांत होना ही है। सब काम औषध की तरह होना चाहिए। धन, जीवन सब कुछ अगाध शांति में जीने के लिए है।

25. आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥ 2॥

आत्म-अज्ञानात्-अहो, प्रीतिः-विषय-भ्रम-गोचरे। शुक्तेः-अज्ञानतः, लोभः, यथा, रजत-विभ्रमे।

जैसे सीपी की सच्चाई को न समझने से उसमें चांदी का भ्रम होने से

लोभ हो; अहो, वैसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से दृश्यमान जड़ विषयों में सुख का भ्रम होकर उनमें प्रीति होती है।

भाष्य—सीपी चांदी की तरह चमकती है, परंतु वह चांदी नहीं है, वैसे दृश्यवान पांचों विषयों में आत्म-अज्ञान से सुख का भ्रम होता है, परंतु उनमें सुख नहीं है। श्री पलटू साहेब कहते हैं—

देखत सोना लगे, सकल जग कांच है।
अरे हां पलटू, जीवन कहिए झूठ तो मरना सांच है॥

26. विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥ 3॥

विश्वम्, स्फुरति, यत्र-इदम्, तरंगा, इव, सागरे। सः-अहम्-अस्मि-इति, विज्ञाय, किम्, दीन, इव, धावसि।

जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं, वैसे तुम्हारे मन में संसार का स्फुर्ण होता है। उन स्मरणों का द्रष्टा मैं हूं, ऐसा समझकर भी संसार की विकारी वस्तुओं को पाने के लोभ में क्यों दीन की तरह दौड़ता है?

भाष्य—समुद्र में तरंगें उठती हैं, वैसे तुम्हारे मन में संसार के स्मरण उठते हैं। तुम चेतन ही संसार को जानकर उसका उपयोग करते हो। तुम न होओ, तो संसार का कोई उपयोग नहीं है। ज्ञाता ही ज्ञेय का मूल्यांकन करता है। जो सबको जानता है **सः अहम् अस्मि**=वह मैं हूं, **इति विज्ञाय**=ऐसा जानकर भी, **किम् दीन इव धावसि**=क्यों दरिद्र बने सांसारिक तुच्छ वस्तुओं के पीछे दौड़ते हो?

बाह्य भौतिक संसार मेरी तरंग नहीं है, अपितु मुझ निर्विकार चेतन से सर्वथा भिन्न है जो निरंतर प्रवहमान है। मेरा मानसिक संसार मेरे मन की तरंग है। मैं ही इन विकारी भौतिक वस्तुओं को देख-देखकर अपने आप की भूल से उनमें लोभ करता हूं और उनके पीछे दीन बना दौड़ता हूं। जो अपने स्वरूप का महत्त्व समझ लेता है वह सांसारिक वस्तुओं में नहीं लुभाता किन्तु विवेकपूर्वक उनसे औषधवत निर्वाह लेकर आत्मशांति में जीता है।

27. श्रुत्वापि शुद्ध चैतन्यमात्मानमति सुन्दरम्।

उपस्थेऽत्यन्त संसक्तो मालिन्यमधिगच्छति॥ 4॥

श्रुत्वा-अपि, शुद्ध-चैतन्यम्-आत्मानम्-अति, सुन्दरम्। उपस्थे-अत्यन्त, संसक्तः, मालिन्यम्-अधिगच्छति।

अपना शुद्ध चेतन आत्मा अत्यंत मंगलमय और प्रियतम है, ऐसा सद्गुरु से उपदेश पाकर भी अपने आसपास के प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में अत्यंत आसक्त होकर मलिनता ग्रहण कर रहे हो!

भाष्य—सद्गुरु से उपदेश पाये हो कि समस्त सौंदर्य का केन्द्रबिन्दु चेतन आत्मा है। उसके न रहने पर सब मुरदा है। अतएव प्रेम आत्मा में ही करना चाहिए। आत्मा ही परम प्रिय है, प्रियतम है। फिर भी, **उपस्थे**=आसपास उपस्थित प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में, **अत्यन्त संसक्तः**=अत्यन्त आसक्त होकर, **मालिन्यम् अधिगच्छति**=मलिनता में लिपटे हो। यह कितना बड़ा अज्ञान है, कितनी बड़ी असावधानी है। याद रखो, यह अनुकूल प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितियों का समूह क्षणिक है, नष्ट हो जाने वाला और छूट जाने वाला है।

आत्मा अति सुंदर है, परंतु वह आंख से देखने की वस्तु नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ही उसका सौंदर्य है जिससे सभी सुंदरता का मूल्यांकन होता है। समस्त भौतिक वस्तुओं से निष्पृह होकर आत्मा में शांत रहना जीवन का फल है।

28. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते॥ 5॥

सर्व-भूतेषु, च-आत्मानम्, सर्व-भूतानि, च-आत्मनि। मुनेः-जानतः, आश्चर्यम्, ममत्वम्-अनु-वर्तते।

सभी प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को मुनि समझता है। आश्चर्य है कि वह किसी की ममता में पड़ा उसके पीछे लगा रहता है।

भाष्य—आत्मज्ञानी, मननशील यह समझता है कि सभी आत्मा अपने समान हैं। अतएव भावनात्मक दृष्टि से माना और कहा जाता है कि मेरे में सब प्राणी हैं और सब प्राणियों में मैं हूं। श्री पूरण साहेब ने भी कहा—"सब तेरे तू सबनि का, काको जानि रिसाय।" इतना जान-समझकर भी

यदि किसी मनुष्य में ममता बनाया जाय तो ज्ञान का क्या उपयोग हुआ!

यह भी सच है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति भी कुछ निकट के लोगों से ही निरंतर का व्यवहार करता-कराता है, परंतु उसे किसी से ममता नहीं होती।

29. आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगोविकलः केलिशिक्षया॥ 6॥

आस्थितः, परम्-अद्वैतम्, मोक्षार्थे-अपि, व्यवस्थितः। आश्चर्यम्, काम-वशगः-विकलः, केलि-शिक्षया।

परम अद्वैत में स्थित है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी तत्पर है; आश्चर्य है कि ऐसा व्यक्ति भी काम-वासना के वश विकल होकर कामभोग में प्रवृत्त होता है।

भाष्य—ग्रंथकार अपने समय में देखते होंगे कि कितने ही ज्ञानी कहलाने वाले अहम् ब्रह्मास्मि और मोक्ष का जबानी जमा-खर्च करते और निर्लिप्तता की डींग हांकते हुए काम-क्रीड़ा में लिपटे हैं। इन्ही स्थितियों को दृष्टि में रखकर वे कहते हैं कि यह कौन-सी अद्वैत स्थिति तथा मोक्ष-साधना है जिसमें काम-भोग जैसी स्थूल मलिनता भी नहीं त्यागी जा सकी।

30. उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्याति दुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकांक्षेत्कालमन्तमनुश्रितः॥ 7॥

उद्भूतम्, ज्ञान-दुर्मित्रम्-अवधार्य-अति, दुर्बलः। आश्चर्यम्, कामम्-आकांक्षेत्-कालम्-अन्तम्-अनुश्रितः।

मन में उत्पन्न हुआ काम ज्ञान का शत्रु है। आश्चर्य है कि मौत के समय तक भी अत्यंत दुर्बल विवेक का मनुष्य भोग की आकांक्षा करते हुए उसी का आश्रय लेता है।

भाष्य—**उद्भूतम्**= मन में उत्पन्न हुआ काम, **ज्ञान-दुर्मित्रम्**= ज्ञान का शत्रु है। **आश्चर्यम्**= आश्चर्य है कि, **कालम् अन्तम्**= मृत्यु के निकट पहुंचा हुआ भी, **अति दुर्बलः**= अत्यन्त दुर्बल विवेक का मनुष्य, **कामम् आकांक्षेत्**= काम-भोग की इच्छा करते हुए, **अवधार्य अनुश्रितः**= उसी

का आश्रय लेता है।

देहाभिमान से काम उत्पन्न होता है। देहाभिमान रखकर स्वरूपस्थिति असंभव है। विवेक तथा निर्विकल्प समाधि से देहाभिमान नष्ट होता है। देहाभिमान जितना मिटता जाता है काम-वासना क्षीण होती है। निरंतर की साधना से जब देहाभिमान पूर्ण विलीन हो जाता है तब काम-वासना पूर्ण नष्ट हो जाती है। इतने पर भी जीवनपर्यंत साधक को सावधान रहना चाहिए। जब तक शरीर है तब तक मन है और जब तक मन है तब तक भटकने का अवसर है। अतएव पूर्ण आत्मविजय होने पर भी विरोधी आलंबन के कुसंग का त्याग और संयम तथा सावधानी की आवश्यकता है।

31. इहामुत्रविरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेवबिभीषिका॥ 8॥

इह-अमुत्र-विरक्तस्य, नित्य-अनित्य-विवेकिनः। आश्चर्यम्, मोक्ष-कामस्य, मोक्षात्-एव-बिभीषिका।

लोक-परलोक के भोगों से विरक्त हैं, नित्य और अनित्य के विवेकी हैं तथा मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं; आश्चर्य है कि ऐसे साधक भी विदेह मोक्ष से ही भय करते हैं।

भाष्य—इह= लोक, **अमुत्र=** परलोक दोनों के भोगों से विरक्त हैं; शरीर और शरीर संबंधी समस्त भौतिक ऐश्वर्य नाशवान और सदैव के लिए छूट जाने वाले हैं और आत्मा नित्य और अपने साथ है, ऐसा विवेक है, और भवसागर से सदैव के लिए मुक्त होना चाहते हैं। आश्चर्य है कि ऐसे साधक भी विदेह मोक्ष से भय करते हैं।

ग्रंथकार यहां कच्चे साधक की दुखती नाड़ी पकड़ते हैं। कितने साधक प्रश्न करते हैं कि जब विदेह मोक्ष में कुछ जानेंगे नहीं तब वहां क्या मजा। और वहां यदि जानने की बात है तो पुनः प्रपंच खड़ा हो गया। फिर सोचते हैं कि जब कभी कुछ नहीं जानेंगे, तब तो जड़ पत्थर हो गये।

यह सब विकल्प स्वरूपज्ञान और पूर्ण स्वरूपस्थिति के अभाव का फल है। पूर्ण आत्मसंतुष्ट साधक विदेह मोक्ष की निर्भय स्थिति को आज

की निर्विकल्प समाधि में देखता है। श्री विशाल साहेब कहते हैं—

जाहि समय कुछ यादि नहिं, ताहि समय दुख कौन।
मन मानन्दी भार गत, सोई मोक्ष सुख भौन॥

(भवयान, अपना बोध, सा. 157)

32. धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति॥ 9॥

धीरः-तु, भोज्यमानः-अपि, पीड्यमानः-अपि, सर्वदा। आत्मानम्, केवलम्, पश्यन्-न, तुष्यति, न, कुप्यति।

धैर्यवान मनुष्य प्रारब्ध-यात्रा में अनुकूलता का उपभोग करता हुआ भी और पीड़ा पाता हुआ भी सर्वदा केवल आत्मा का स्मरण रखता है। वह न अनुकूलता में हर्षित होता है और न प्रतिकूलता में क्रोधित होता है।

भाष्य—धीर का अर्थ ही है स्थिर, धैर्यवान, अडिग, दृढ़ निश्चय वाला, स्वस्थ चित्त, शांत, सावधान, स्थिर बुद्धि, प्रशांत, गंभीर, दूरदर्शी, प्रतिभाशाली, अचल निश्चय वाला। यथार्थ ज्ञान का फल यही है कि किसी भी स्थिति में अपने कर्तव्य और स्थिति से न डिगना। न सुख रहता है और न दुख रहता है, न मित्र रहते हैं और न शत्रु रहते हैं, न अनुकूलता रहती है, न प्रतिकूलता रहती है। जो अपने सत्य निर्णय और कर्तव्य से विचलित हो जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है और अशांति में जीता है; और जो सब कुछ निर्विकार भाव से सहकर अपने कर्तव्य में दृढ़ रहता है वह भीतर प्रतिष्ठा पाता है, शांति पाता है और लोक में ऊंचा माना जाता है।

ज्ञानी निरंतर अपने आप पर, आत्मा पर शांति एवं मोक्ष पर दृष्टि रखता है जो शाश्वत है। वह देह-यात्रा की क्षणिक घटनाओं पर मन नहीं रखता।

33. चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः॥ 10॥

चेष्टमानम्, शरीरम्, स्वम्, पश्यति-अन्य-शरीर-वत्। संस्तवे, च-अपि, निन्दायाम्, कथम्, क्षुभ्येत्-महाशयः।

जो शांति-सागर है वह अपने सक्रिय शरीर को दूसरे के शरीर की तरह देखता है, वह स्तुति और निंदा से कैसे क्षुब्ध होगा?

भाष्य—आशय के मुख्य दो अर्थ हैं—विश्रामस्थल और अभिप्राय। आशय शब्द में महा विशेषण लगा है। अतएव महाशय का अर्थ हुआ जो महान विश्राम स्थल में है, जो शांति-सागर है। जीवन का महान अभिप्राय शांति ही है। कुल मिलाकर महाशय वह है जो गहरी शांति में निरंतर निवास करता है, वह अपने गतिमान शरीर को शव तुल्य समझता है, जड़ समझता है, अनात्म समझता है जैसा कि वह है। इसलिए वह समझता है कि प्रशंसा और निंदा, पूजा और पीड़ा, सत्कार और तिरस्कार देह के होते हैं, आत्मा के नहीं। फिर वह शांति-सागर मनुष्य स्तुति-निंदा में क्षुब्ध कैसे होगा?

क्षोभ हलचल है। स्तुति पाकर हर्षित होना हलचल है और निंदा पाकर क्रुद्ध होना हलचल है। शांति-सागर मनुष्य क्षुब्ध कैसे होगा! वह तो अपने को असंग आत्मा समझता है। उसका देहभाव मिट गया है।

34. मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगत कौतुकः।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥ 11॥

माया-मात्रम्-इदम्, विश्वम्, पश्यन्, विगत, कौतुकः। अपि, सन्निहिते, मृत्यौ, कथम्, त्रस्यति, धीर-धीः।

स्थिर बुद्धि वाला विवेकवान आश्चर्य से पार होकर इस संसार को दिखावा मात्र समझता है। वह अपने माने गये शरीर की मृत्यु उपस्थित होने पर भी कैसे भयभीत होगा!

भाष्य—प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति मिलते हैं और छूट जाते हैं। शरीर छूट जाने पर संसार सदा के लिए लुप्त हो जाता है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर संसार दिखावा मात्र ही है। सारा संसार छूट जाने वाला है। इसलिए सब दिखावा मात्र होने से माया मात्र ही है। ज्ञानी संसार को देखकर आश्चर्य नहीं करता। प्रकृति की अपनी कारण-कार्य व्यवस्था है। उससे संसार चलता है। इसमें आश्चर्य क्या है!

जिसकी दृष्टि में सारा संसार दिखावा मात्र है, वह अपना माने गये अनात्म शरीर के छूटने की स्थिति में भयभीत क्यों होगा! जीवन्मुक्त को

भी शरीर रहे तक देहोपाधि की झंझट भोगना पड़ता है। देह छूट जाने पर वह भी समाप्त हो जाती है। इसीलिए सद्गुरु कबीर ने कहा है—

जेहि मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद॥

35. निस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते॥ 12॥

निःस्पृहम्, मानसम्, यस्य, नैराश्ये-अपि, महात्मनः। तस्य-आत्मज्ञान-तृप्तस्य, तुलना, केन, जायते।

जिसका मन सारी इच्छाओं को छोड़ दिया है और समस्त शुभाशुभ दृश्यों से निराश हो गया है, उस आत्मज्ञान में तृप्त महात्मा की किससे तुलना की जाय!

भाष्य—जिसके मन में कोई स्पृहा, इच्छा, कामना नहीं है, जो शुभ-अशुभ सबसे निराश हो गया है, जिसके जीवन में जगत-बीज है ही नहीं, कुछ पाने की इच्छा जगत-बीज है, जिसे कुछ इच्छा नहीं रह गयी, वह अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में सदैव तृप्त रहता है। उसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। वह सर्वोच्च है; क्योंकि उसकी मानसिक पीड़ा समाप्त हो जाती है।

36. स्वभावादेव जानाति दृश्यमेतन्नकिंचन।
इदं ग्राह्यमिदंत्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः॥ 13॥

स्वभावात्-एव, जानाति, दृश्यम्-एतत्-न-किंचन। इदम्, ग्राह्यम्-इदम्-त्याज्यम्, स, किम्, पश्यति, धीर-धीः।

स्थिर बुद्धि ज्ञानी इस तथ्य को सहज ही समझता है कि यह सारा दृश्यमान जगत कुछ है ही नहीं। फिर वह यह क्यों सोचे कि इसे लेना है और इसे छोड़ना है।

भाष्य—यह प्रवहमान दृश्य जगत हर क्षण बदलता हुआ अपने आपमें सब समय है, परंतु मुझ शुद्ध चेतन स्वरूप में यह किंचित कभी नहीं है। मेरा इस जगत से संबंध मन-इंद्रियों द्वारा होता है। गाढ़ी नींद में मन और इंद्रियों के शांत हो जाने से हमारा संबंध जगत से नहीं रह जाता। पूर्ण

सुषुप्ति में हम संसार को नहीं जानते हैं। अतएव आत्मा में जड़-जगत किंचित भी नहीं है।

ज्ञानी उपर्युक्त स्थिति को सहज स्वाभाविक ही जानता है। इसलिए वह किस वस्तु को पाने और छोड़ने की इच्छा करे। वैसे जीवनपर्यंत कुछ ग्राह्य है और कुछ त्याज्य है। नशा, मांस और स्वास्थ्य-विरोधी भोजन त्याज्य है और शुद्ध शाकाहारी भोजन ग्राह्य है। कुसंग त्याज्य है और सत्संग ग्राह्य है।

धीर धीः इदम् ग्राह्यम् इदम् त्याज्यम् स किम् पश्यति=शांतात्मा तत्त्वविवेकी यह ग्रहण करूं यह छोड़ दूं इस बात को क्या मन में लाये; क्योंकि सब कुछ छुटा-छुटा है। मेरे में कुछ है ही नहीं। जिसे पकड़ूंगा वह रह नहीं जायेगा। मेरे में किंचिन्मात्र भी संसार है ही नहीं, यह सहज समझकर ज्ञानी ग्रहण-त्याग के मोह से रहित होकर अपने आपमें शांत हो जाता है।

क्या चाहूं कुछ थिर न रहाई।
देखत नयन चला जग जाई॥

37. अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयाऽऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये॥ 14॥

अन्तः-त्यक्त-कषायस्य, निर्द्वन्द्वस्य, निराशिषः। यदृच्छया-आगतः, भोगः, न, दुःखाय, न, तुष्टये।

जिसने अपने अंतःकरण की सारी विषयासक्ति को त्याग दिया है और संसार की सारी आशाएं छोड़कर अनुकूल-प्रतिकूल में समता रखकर निर्द्वन्द्व हो गया है, वह प्रारब्धवशात मिली हुई निर्वाहिक वस्तुओं का उपयोग करता है। उसमें वह न दुख मानता है न हर्ष करता है।

भाष्य—विषयासक्ति मन का कषाय है, कसैलापन एवं कड़वाहट है। जिसने इसका त्याग कर दिया है, जो निराशिष हो गया है, जिसने भोगों की आशाएं त्याग दी हैं, जो निर्द्वन्द्व हो गया है, अनुकूल-प्रतिकूल में समता वाला हो गया है; वह बंधन-मुक्त है, आनंदकंद है, जीवन्मुक्त है।

रहा उसका जीवन-निर्वाह। तो **यदृच्छया**=सहज, स्वाभाविक; **आगतः**=आये हुए, प्रारब्धवशात मिले हुए, **भोगः**=निर्वाहिक पदार्थों का अनासक्तिपूर्वक उपयोग करता है। उसमें, **न दुःखाय न तुष्टये**=न दुखी होता है और न प्रफुल्लित होता है। चित्त में समता की स्थिति निर्द्वन्द्व

अवस्था है, और यही आध्यात्मिक ऊंचाई है।

चौथा प्रकरण

38. हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता॥ 1॥

हन्त-आत्मज्ञस्य, धीरस्य, खेलतः, भोग-लीलया। न, हि, संसार-वाहीकैः-मूढैः, सह, समानता।

प्रसन्नता का विषय है कि आत्मज्ञानी शांतात्मा पुरुष जीवन के व्यवहार को संसार के रंगमंच पर खेल और शरीर के सुख-दुख भोगों को दिखावा मात्र समझता है। सांसारिक चिंताओं को ढोने वाले देहाभिमानी मूर्खों से उसकी तुलना नहीं हो सकती।

भाष्य—हन्त[1] = प्रसन्नता, हर्ष और आकस्मिक हलचल को प्रकट करने वाला अव्यय है, जैसे '**हन्त भो लब्धं मया स्वास्थ्यम्**'। ग्रंथकार कहते हैं कि यह प्रसन्नता का विषय है कि धीरवान शांतात्मा आत्मज्ञानी पुरुष अपने जीवन के कर्तव्य को रंगमंच का खेल समझता है। रंगमंच पर नाटक चलता है। उस पर नाटकी राजा तथा नौकर बनकर आता है और राजा तथा नौकर-जैसा व्यवहार करता है, परंतु भीतर से वह अपने को न राजा मानता है और न नौकर। अतएव दोनों प्रकार के खेलों में उसके मन में राजा बनने का घमण्ड और नौकर बनने की हीन भावना नहीं रहती। इसी प्रकार विवेकवान अपने सारे कर्तव्य कर्म करता है, परंतु वह उसमें कहीं भी अहंता-ममता नहीं करता। वह जानता है कि इस रंगमंच का नाटक क्षणिक है। इसकी क्या अहंता-ममता करना। इसलिए वह सांसारिक द्वंद्वों में उलझता नहीं है। सब कुछ निर्विकार भाव से सह लेता है।

इसी प्रकार ज्ञानी मिले हुए सुख-दुख, प्रशंसा-निंदा, सत्कार-तिरस्कार, सम्मान-अपमान, रोग्यता-निरोग्यता, हानि-लाभ, मिलन-

---

1. हन्त शब्द शोक और अफसोस प्रकट करने के लिए भी प्रयुक्त होता है ।

वियोग आदि शरीर के भोगों को लीला एवं दिखावा मात्र मानता है। वह समझता है कि यह सब नहीं रहेगा। इसलिए विवेकवान शांतात्मा हर्ष-शोक से मुक्त निरंतर परमानंद में रहता है।

जो संसारवाहीक हैं, संसार को ढोने वाले हैं, देह और देहोपाधि जनित उपलब्धियों में चिपके हैं, कर्तव्य कर्म और मिले हुए अनुकूल-प्रतिकूल में आसक्त हैं; वे मूर्ख हैं। वे इन सबकी क्षणभंगुरता, विनश्वरता और सब समय के लिए वियोग को नहीं देखते हैं। वे देह से सर्वथा भिन्न अपने आपको, आत्मा को नहीं समझते हैं; इसलिए वे हर्ष-शोक में पीड़ित रहते हैं। ऐसे लोगों से उपर्युक्त विवेकवान ज्ञानियों की समानता नहीं हो सकती।

निर्लिप्तवाद की डींग हांकनेवाले ऐसे तथाकथित ज्ञानियों की कमी नहीं है जो मानते हैं, लिखते तथा कहते हैं कि रंग-रास, काम-भोग, मार-काट, लूटपाट, अपहरण करते हुए ज्ञानी यह सब लीला मात्र मानकर सदैव मुक्त रहता है। परंतु यह धारणा सर्वथा असत्य तथा समाज, धर्म और अध्यात्म की शत्रुणी है। पाठक तथा साधक इससे सावधान रहें। सदाचार ही ज्ञान का प्रत्यक्ष फल है।

39. यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति॥ 2॥

यत्-पदम्, प्रेप्सवः, दीनाः, शक्राद्याः, सर्व-देवताः। अहो, तत्र, स्थितः, योगी, न, हर्षम्-उपगच्छति।

जिस तृप्ति की स्थिति पाने के लिए इंद्र आदि सभी देवता दरिद्र बने भटकते हैं; आश्चर्य है उस स्थिति को प्राप्त हुआ योगी हर्षित भी नहीं होता।

भाष्य—यत् पदं=जिस तृप्ति स्थिति को, **प्रेप्सवः**=पाने की इच्छा रखते हुए, **शक्राद्याः**=इंद्र आदि, **सर्व देवताः दीनाः**=सभी देवता दरिद्र बने भटकते हैं; **अहो**=आश्चर्य, **तत्र स्थितिः योगी**=उसमें स्थित हुआ योगी, **हर्षम् न उपगच्छति**=हर्ष नहीं प्राप्त करता, हर्षित नहीं होता।

इंद्र आदि देवता भोगों से तृप्ति ही तो चाहते हैं; परंतु भोगों से आज तक किसी को भी तृप्ति नहीं मिली, तो देवता उनसे कैसे तृप्त हो सकते हैं? भोग, ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा चाहने वाले तो दीन-दरिद्र बने भटकते हैं।

आश्चर्य है, कुछ न चाहने वाला परम तृप्त रहता है और उस उच्च स्थिति में होकर वह हर्ष भी नहीं प्रकट करता, क्योंकि उसकी आत्मतृप्ति उसका स्वभाव बन जाती है।

40. तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः॥ 3॥

तत्-ज्ञस्य, पुण्य-पापाभ्याम्, स्पर्शः, हि-अन्तः-न, जायते। न, हि-आकाशस्य, धूमेन, दृश्यमान्-अपि, संगतिः।

उस आत्मज्ञानी के अंतःकरण में पाप-पुण्य का स्पर्श उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार धुएं से आकाश मलिन दिखते हुए भी वह मलिन नहीं होता।

भाष्य—जब धुआं उठता है तब लगता है कि आकाश मलिन हो गया, परंतु धुआं शांत होने पर आकाश निर्मल ही रहता है। आत्मज्ञानी पाप तो करता ही नहीं, पुण्य करता है, अच्छा काम करता है, परंतु उसमें अहंता-ममता न रखने से उसका मन निर्द्वंद्व रहता है। आत्मज्ञानी का लक्षण है मन-इंद्रियों पर विजयी होना तथा क्षमा, सरलता, दया, संतोष और सत्य में रमना[1]। ऐसा व्यक्ति भी समाज की सेवा करता है, परंतु वह अहंकार-शून्य होने से सदैव निर्मल तथा शांति-सागर होता है।

41. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञसैव हि सामर्थ्यमिच्छाऽनिच्छाविवर्जने॥ 5॥

आ-ब्रह्म-स्तम्ब-पर्यन्ते, भूत-ग्रामे, चतुर्विधे। विज्ञस्य-एव, हि, सामर्थ्यम्-इच्छा-अनिच्छा-विवर्जने।

ब्रह्म से लेकर तृण तक जो चार प्रकार प्राणी-समूह हैं, उसमें आत्मज्ञानी ही इच्छा-अनिच्छा से परे रहने की शक्ति रखता है।

भाष्य—आ-ब्रह्म=ब्रह्मा से लेकर, **स्तम्ब पर्यन्ते**=तृण तक, **चतुर्विधे**=चार प्रकार के-चार खानियों के, **भूत ग्राम**=प्राणी समूह हैं। उनमें, **विज्ञस्य एव**=आत्मज्ञानी ही, **इच्छा-अनिच्छा**=इच्छा-अनिच्छा से,

---

1. अष्टावक्र गीता, अध्याय 1, श्लोक 2।

विवर्जने= परे रहने की, **सामर्थ्यम्**= शक्ति रखता है।

चाहे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर हों और चाहे सूक्ष्म से सूक्ष्म देहधारी हों— समस्त प्राणियों में वही मनुष्य अपने को इच्छा-अनिच्छा से सर्वथा परे रख सकता है जो अपने असंग चेतन स्वरूप का ज्ञाता है। जिसने तत्त्वतः समझ लिया है कि यह अनात्म जड़-जगत मेरा नहीं है, वही इच्छा-अनिच्छा से अपने को सर्वथा परे रख सकता है।

ज्ञानी इच्छा से परे रहता है। वह भोग और प्रतिष्ठा नहीं चाहता है, यह बात तो समझ में आती है; परंतु अनिच्छा से भी परे रहता है। यह अनिच्छा क्या बला है? वस्तुतः हमारी कितनी ही इच्छाएं अचेतन मन में दबी पड़ी हैं जो आज अनिच्छा रूप हैं। ज्ञानी उनसे भी परे हो जाता है। सारे भोग पांच विषयों से अलग नहीं हैं जिनके नाम हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। जिनके मन से आज इन पांचों विषयों की आसक्ति सर्वथा मिट गयी, वह इनकी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। अचेतन मन में दबी इच्छाएं पांचों विषयों की ही थीं। आज पांचों विषयों की इच्छाएं एवं वासनाएं सर्वथा मिट जाने पर दबी इच्छाएं जो आज अनिच्छा रूप हैं अपने आप नष्ट हो जाती हैं। जो व्यक्ति पचास वर्ष से शराब पीता रहा, उसने वर्तमान में उसे मन, वाणी, कर्म से त्याग दिया और उसकी आसक्ति पूर्णरूपेण नष्ट हो गयी तो उसकी शराब की आसक्ति आज की ही केवल नहीं नष्ट हुई, अपितु पूर्व-पूर्व पचास वर्ष की भी आसक्ति नष्ट हो गयी। वर्तमान पूर्ण सुधर जाने पर भूतकाल पूरा सुधर जाता है।

अनिच्छा से परे होने को इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि ज्ञानी अनिच्छा के अहंकार से परे होता है। वह भोग-प्रतिष्ठा की इच्छा त्याग देता है और इच्छा-त्याग के अहंकार को भी त्याग देता है।

42. आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।
यद्वेति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥ 6॥

आत्मानम्-अद्वयम्, कश्चित्-जानाति, जगदीश्वरम्। यत्-वेत्ति, तत्-सः, कुरुते, न, भयम्, तस्य, कुत्रचित्।

कोई विरला ही यह समझता है कि यह असंग आत्मा ही जगदीश्वर है। जो अपने स्वरूप को ऐसा समझ लेता है वह जैसा उचित समझता है

वैसा करता है। उसे किसी का भय नहीं होता।

भाष्य—कश्चित्= कोई विरला, **जानाति**= जानता है कि, **अद्वयम् आत्मानम्**= असंग आत्मा, **जगदीश्वरम्**= जगदीश्वर है, ब्रह्म है। **सः**= वह ज्ञानी, **यत् वेति**= जैसा उचित समझता है, **तत् कुरुते**= वैसा करता है। **तस्य**= उसको, **कुत्रचित्**= किसी का, **न भयम्**= भय नहीं होता।

लोग परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, अल्लाह, गॉड बाहर खोजते हैं, परंतु वह कहीं नहीं मिलता है। भीड़ बहिर्मुख है। वह बाहर ही अपना लक्ष्य खोजती है। विरला होता है, वह धन्य है जो यह समझता है कि अपना अद्वय, असंग आत्मा ही परमात्मा है। ज्ञान-विज्ञान का स्रोत मनुष्य का आत्मा ही है। सारे ईश्वरों, देवी-देवताओं का सृजेता मनुष्य का आत्मा ही है। सारे ग्रंथों का रचयिता एवं लेखक मनुष्य का आत्मा ही है।

मन का सारा विस्तार परिधि है और आत्मा केन्द्र है। जो परिधि से हटकर अपने केन्द्र में आ गया वह निर्भ्रांत हो जाता है। वह सारा काम विवेक से करता है और निर्भय हो जाता है।

पांचवां प्रकरण

43. न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज॥ 1॥

न, ते, संगः-अस्ति, केन-अपि, किम्, शुद्धः-त्यक्तुम्-इच्छसि। संघात-विलयम्, कुर्वन्-एवम्-एव, लयम्, व्रज।

तुम्हारा किसी से संबंध नहीं है। तुम शुद्ध हो। तुम किसको त्यागने की इच्छा करते हो? शरीर जड़ प्रकृति के कणों का जोड़ है। इसको प्रकृति में ही विलीन समझो। तुम केवल अपने में लीन होओ।

भाष्य—ते= तुम्हारा, **केन अपि**= किसी से भी, **संगः न अस्ति**= संबंध नहीं है; इसलिए तुम, **शुद्धः**= शुद्ध हो। फिर तुम, **किम्**= किसके, **त्यक्तुम् इच्छसि**= त्यागने की इच्छा करते हो? यह शरीर, **संघातम्**= जड़ प्रकृति के कणों का जोड़ है। अतएव इसे प्रकृति में ही, **विलयम् कुर्वन्**= विलीन कर दो, मान लो कि यह प्रकृति में लीन हो गया है। **एवम्**= अतएव तुम, **लयम् एव व्रज**= आत्मा में ही लीन होओ।

तुम अद्वय हो, अकेला एवं असंग हो, शुद्ध हो। तुम्हारा सम्बन्ध तत्त्वतः किसी से नहीं है। जब तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं, तब तुम किसे त्यागने का घमण्ड करते हो। शरीर को मिट्टी का पिण्ड समझो। अपने को शुद्ध चेतन समझो। अतएव सदैव अपने में लीन रहो, अपने में शांत रहो।

44. समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज॥ 4॥

सम-दुःख-सुखः, पूर्णः, आशा-नैराश्ययोः, समः। सम-जीवित-मृत्युः, सन्-एवम्-एव, लयम्, व्रज।

दुख और सुख में, आशा और निराशा में तथा जीवन और मरण में

समता भाव रखते हुए आत्मा में लीन रहकर जीवन व्यतीत करो।

भाष्य—याद रखो, तुम पूर्णकाम, दुखहीन, परमानंदमय, परमशांत कल्याणस्वरूप हो। तीन काल में तुम्हारी कोई क्षति नहीं है। जीवन यात्रा में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं, आशा-निराशा के समय आते हैं, जीवन चल रहा है तो मरण का भी समय आना ही है। इन सब में समता का भाव रखो। यह सब क्षणिक है। आज-कल में शरीर ही नहीं रहेगा, फिर समस्या कहां रहेगी। अतएव जीवन की सारी परिस्थितियों में समता का भाव रखते हुए सदैव आत्मलीन रहो।

छठां प्रकरण

45. अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥ 4॥

अहम्, वा, सर्व-भूतेषु, सर्व-भूतानि-अथो, मयि। इति, ज्ञानम्, तथा-एतस्य, न, त्यागः, न, ग्रहः, लयः।

मैं सभी प्राणियों में हूं और सब प्राणी मेरे में हैं। यह ज्ञान है। इसलिए आत्मा का न त्याग है, न ग्रहण है और न लीनता है।

भाष्य—मैं सभी आत्माओं में हूं और सब आत्मा मेरे में हैं, यह भावनात्मक कथन है। इसका सार भाव है कि सब आत्मा सजाति हैं। अतएव सबसे समता का बरताव करना चाहिए। आत्मा का न त्याग होता है न ग्रहण होता है और न लय होता है। आत्मा का त्याग असंभव है। आत्मा से आत्मा कभी अलग नहीं हो सकता। आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। ग्रहण दूसरी वस्तुओं का होता है। अपना आप तो नित्य प्राप्त ही है। आत्मा अखण्ड है वह किसी में नहीं लीन होता है। देहोपाधि में कहा जाता है कि आत्मा में लीन होओ। इसका अर्थ है मन को आत्मा में लगाओ। वस्तुतः मन को त्यागकर आत्मा अपने आप शेष है।

सातवां प्रकरण

46. नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरंजने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः॥ 4॥

न–आत्मा, भावेषु, नो, भावः–तत्र–अनन्ते, निरंजने। इति–असक्तः–अस्पृहः, शान्तः, एतत्–एव–अहम्–आस्थितः।

आत्मा भावना में नहीं है और उस शाश्वत तथा निर्दोष आत्मा में भावना नहीं है। आत्मा तो अनासक्त–असंग–स्पृहारहित और शांत है। मैं इस आत्मा में ही स्थित हूं।

भाष्य—न आत्मा भावेषु= आत्मा भावना में नहीं है। भावना तो मन की अवस्था है जो आत्मा द्वारा ही संचालित है और जो सदाकाल रहने वाला शाश्वत और निर्दोष आत्मा है उसमें भावना, मनःकल्पना की कहां गुंजाइश है। अतएव मन–तन आदि भौतिक जगत से परे आत्मा शुद्ध–बुद्ध, शाश्वत, निष्काम और शांत है। वही मेरी विश्राम–भूमिका है।

47. अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत्।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेय कल्पना॥ 15॥

अहो, चिन्मात्रम्–एव–अहम्–इन्द्रजाल–उपमम्, जगत्। अतः, मम, कथम्, कुत्र, हेय–उपादेय–कल्पना।

अहो, मैं केवल चेतन मात्र हूं और यह जगत इंद्रजाल के समान दिखावा मात्र है। इसलिए मैं यहां किसके त्याग या ग्रहण करने की कल्पना करूं?

भाष्य—मैं असंग चेतन हूं। देह और इंद्रियों से ही मुझे जगत का भान होता है। जगत इंद्रजाल के समान दिखावा है, धोखा है। इसका अधिकतर अनुभव बुढ़ापा और मृत्यु के समय होता है। यद्यपि जीवनपर्यन्त सबके

अपने कुछ कर्तव्य-कर्म होते हैं। हमारे लिए हर प्रकार से सहयोग अन्य से होता है, इसलिए हमारा भी कर्तव्य है कि हम अन्य की सेवा करें। संसार सहकारी समिति है। हमें जीवनपर्यंत अनासक्त होकर कर्तव्य परायण रहना चाहिए। तथापि यह भी ध्यान रखना चाहिए कि संसार में न कोई मेरा है न मैं किसी का हूं और न यहां कुछ मेरा है। इस सत्यता में जीकर ही परमशांति में रहा जा सकता है।

जीवनयात्रा में कुछ हेय और कुछ उपादेय अर्थात कुछ त्याग और कुछ ग्रहण योग्य होता है; परंतु अंततः सब यहीं रह जाना है। अतएव तत्त्वतः क्या पकड़ूं, क्या छोड़ूं? सब छुटा-छुटाया ही है।

आठवां प्रकरण

48. तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिध्दृष्यति कुप्यति॥ 1॥

तदा, बन्धः, यदा, चित्तम्, किंचित्-वांच्छति, शोचति। किंचित्-मुंचति, गृह्णाति, किंचित्-हृष्यति, कुप्यति।

तब बंधन है जब मन कुछ चाहता है, कुछ चिंता करता है, कुछ छोड़ता है, कुछ पकड़ता है, कुछ हर्ष करता है और कुछ क्रोध करता है।

भाष्य—चाहना दुख की जड़ है। चाहना करने से चित्त चंचल हो जाता है। चाहना पूरी होने से लोभ बढ़ता है और उसके प्रबंध, रख-रखाव, खर्च आदि की चिंता होती है। चाहना सफल न होने से मन दुखी होता है। कुछ छोड़ना पड़ता है, देना पड़ता है तब दुख होता है। कुछ ग्रहण करने में भी परतंत्रता होने से दुख होता है। प्राप्त करने से भोग मिलता है और सारी प्राप्ति परतंत्र है, क्योंकि साझे की है। उपलब्धियों से प्रसन्न होना और विघ्न होने पर क्रोध करना यह सब बंधन रूप है। मन का क्षोभ ही बंधन है।

49. तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्च्छति न शोचति।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति॥ 2॥

तदा, मुक्तिः-यदा, चित्तम्, न, वांछति, न, शोचति। न, मुंचति, न, गृह्णाति, न, हृष्यति, न, कुप्यति।

तब मोक्ष है जब मन में न इच्छा है, न चिंता है, न त्याग है, न ग्रहण है, न हर्ष है और न क्रोध है।

भाष्य—मन का क्षोभ-रहित रहना ही मोक्ष है। जीवन में कुछ व्यवहार होता है। विवेकवान आसक्ति रहित होकर वह सब करता है;

इसलिए उसे क्षोभ नहीं होता। दृढ़ धैर्य रखकर ऐसा मन बनाना चाहिए जो जीवन के उचित कर्तव्य करते हुए क्षोभ-रहित रहे। अपने शरीर का निर्वाह तथा साथियों एवं सामने वालों के लिए कुछ कर्तव्य होते हैं। उनको प्रसन्नतापूर्वक करते हुए क्षोभ-रहित रहना समझदारी है।

50. तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु॥ 3॥

तदा, बंधः, यदा, चित्तम्, सक्तम्, कासु-अपि, दृष्टिषु। तदा, मोक्षः, यदा, चित्तम्-असक्तम्, सर्व-दृष्टिषु।

तब बंधन है जब मन किसी भी जड़-दृश्य पदार्थ के प्रति आसक्त है; और तब मोक्ष है जब शरीर से लेकर सारे दृश्य-प्रपंच के लिए पूर्ण अनासक्त है।

भाष्य—देह से लेकर सारा दृश्यमान संसार अनात्म, अनित्य और छूटने वाला है। इन दृश्यों के प्रति आसक्ति ही बंधन है। जब सब तरफ से चित्त अनासक्त हो गया, तब मोक्ष है।

सक्तम् असक्तम्—आसक्ति और अनासक्ति ही में बंधन और मोक्ष का रहस्य है। साधक को विवेक करना चाहिए कि जो अंततः छूटना ही है, उसका मोह त्याग कर मोक्ष लेना परम कर्तव्य है। जीवन में पूर्ण शांत मन वाला होना ही मोक्ष है।

51. यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्चमा॥ 4॥

यदा, न-अहम्, तदा, मोक्षः, यदा-अहम्, बन्धनम्, तदा। मत्वा-इति, हेलया, किंचित्-मा, गृहाण, विमुंच-मा।

जब अहंकार नहीं रहता तब मोक्ष है और जब अहंकार है तब बंधन है। ऐसा समझकर अहंकार का त्याग करो और न कुछ ग्रहण करो न त्याग करो।

भाष्य—**यदा**=जब, **न अहम्**=अहंकार नहीं है, **तदा**=तब, **मोक्षः**=मोक्ष है। **यदा**=जब, **अहम्**=अहंकार है, **तदा**=तब,

बन्धनम्= बंधन है। **मत्वा इति**= ऐसा मानकर-जानकर, अहंकार का, **हेलया**= त्याग करो। **किंचित्**= कुछ भी, **मा ग्रहाण**= न ग्रहण करो, **मा विमुंच**= न त्याग करो।

अहंकार देह तथा देह संबंधी नाम, रूप, पद, योग्यता, ऐश्वर्य आदि का होता है जो अनात्म, अनित्य और छूटने वाले हैं। यह अहंकार हमारी मूर्खता है। यही हमें बांधता है। इसे संपूर्णतया छोड़ देने पर परमशांति है। न कुछ ग्रहण न कुछ त्याग, विवेक अवस्था है। जीवन-यात्रा में कुछ ग्रहण तथा कुछ त्याग करना पड़ता है, परंतु यह समझना चाहिए कि स्वरूपतः आत्मा असंग है। उसमें ग्रहण-त्याग है ही नहीं। पूर्ण शांत रहना परम पद की स्थिति है।

नवां प्रकरण

52. कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेहि निर्वेदाद्भवत्यागपरोऽव्रती॥ 1॥

कृत-अकृते, च, द्वन्द्वानि, कदा, शान्तानि, कस्य, वा। एवम्, ज्ञात्वा-इह, निर्वेदात्-भव-त्यागपरः-अव्रती।

यह किया और यह नहीं कर सका, यह द्वंद्व कब किसका शांत हुआ है? इस तथ्य को समझकर दृढ़ वैराग्यपूर्वक त्याग परायण होकर आग्रह-रहित हो जाओ।

भाष्य—कृते च अकृते= यह किया और यह नहीं कर सका, **द्वन्द्वानि**= द्वन्द्व, क्षोभ, **कदा वा कस्य**= कब अथवा किसका, **शान्तानि**= शांत हुआ है? **एवम् ज्ञात्वा**= यह समझकर, **इह**= इस स्थिति में, **निर्वेदात्**= दृढ़ वैराग्यपूर्वक, **त्यागपरः**= त्याग परायण होकर, **अव्रती भव**= आग्रह-रहित हो जाओ।

जीवन का अंत आ जाता है, परंतु मनुष्य का काम समाप्त नहीं होता। भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के लिए काम करना चाहिए। भौतिक उन्नति भी अंततः आत्मिक सुख-शांति के लिए है। अतएव अपने कर्तव्य कर्म पर भी मनुष्य को समीक्षा करना चाहिए। वह कितना करेगा। उसके जीवन की शक्ति तथा समय सीमित है। उसी के भीतर उसे अगाध शांति में पहुंच जाना चाहिए जो जीवन का परम लक्ष्य है। कूड़ा-कबाड़ की उन्नति के चक्कर में काम करते-करते उलझा हुआ मर गया, तो उसको जीवन-लक्ष्य कहां मिला?

गहरी शांति में जीना जीवन का फल है। ध्यान रखिए, यह पुस्तक मोक्षशास्त्र है। यह शांति का अंतिम रास्ता बताता है। ग्रंथकार कहते हैं कि

यह कर लिया और यह अभी तक नहीं कर पाया, यह द्वंद्व कब किसका शांत हुआ है? उत्तर है कि दुनियादारी में उलझे हुए लोगों का यह कभी नहीं शांत होता है।

इस द्वंद्व के शांत होने का रास्ता है पहले इस तथ्य को जान ले कि कर्म में उलझकर शांति नहीं मिल सकती। शांति के लिए निर्वेद की आवश्यकता है। निर्वेद[१] का अर्थ है विषयों से घृणा हो जाना, अनासक्त हो जाना। यह तब होता है जब मनुष्य तथ्य देखता है। नर-नारी के शरीर में आकर्षित होकर काम-शत्रु का उदय होता है। परंतु शरीर को तथ्यतः देखो तो वह क्या है, मल-मांस का पिंड, विकारों और उद्वेगों से भरा हुआ। किसी नर या नारी के मल-पिण्ड में लिपटने के बाद परिणाम होता है—क्षीणता, मलिनता, शक्तिहीनता, पछतावा, तृष्णा की वृद्धि, किसी स्त्री या पुरुष से बंधकर पूरे जीवन की परतंत्रता, फिर कर्म-कुकर्म की वृद्धि; शिकायत, पछतावा और चिंता में मृत्यु और आगे भवसागर में भटकाव। इन सारी बातों को समझ जाने के बाद विषयों से दृढ़ वैराग्य हो जायेगा। ग्रंथकार कहते हैं **त्याग परः**=त्याग परायण होओ। त्याग से ही शांति मिलेगी। अहंकार-कामना का त्याग करने पर शांति का साम्राज्य मिलता है।

ग्रंथकार कहते हैं **अव्रती भव**। व्रत का अर्थ है प्रतिज्ञा, पकड़। अव्रती का अर्थ है जो प्रतिज्ञा न करे, पकड़ न करे। यहां का अव्रती है पकड़-रहित मन वाला, निर्ग्रंथ मन वाला।

व्रती होना अपना महत्त्व रखता है। मैं जीवनपर्यन्त सदाचारी और संयमी रहूंगा, ऐसा व्रत लेकर रहना उत्तम है। किंतु प्रस्तुत प्रसंग में अव्रती होने का अर्थ है पकड़-रहित होना, निर्ग्रंथ, कॉम्पलेक्स-फ्री।

53. कस्यापि तात धनस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभोत्सोपशमं गताः॥ 2॥

कस्य-अपि, तात, धनस्य, लोक-चेष्टा-अवलोकनात्। जीवितेच्छा, बुभुक्षा, च, बुभुत्सा-उपशमम्, गताः।

हे प्रिय! वह विरला और धन्य है जिसकी संसार की दशा देखकर जीने, भोगने और जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है।

---

1. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः। काव्य०।

भाष्य—सारा दृश्यमान जिसमें हमारा मोह होता है, सब जड़ प्रकृति निर्मित होने से क्षण-क्षण बदलता है। शरीर से लेकर पूरा संसार निरंतर भागा जा रहा है। मनुष्यों का मन क्षण-क्षण बदलता है। "न वर्तमान रहेगा और न आने वाला कल रहेगा। जो रहस्यमय है वह कैसे जाना जा सकता है? साथियों तथा मिलने-जुलने वालों का मन अत्यंत चंचल है और जो पढ़ा-गुना तथा जाना हुआ है वह भूल जाता है।"[१]

लोकचेष्टा अवलोकनात्= संसार की गतिविधि, रंग-ढंग, दशा देखकर, **कस्य अपि**= कोई विरला मनुष्य जो धन्य है, उसकी **जीवितेच्छा**= जीने की इच्छा, **बुभुक्षा**= भोगने की इच्छा और **बुभुत्सा**= जानने की इच्छा, **उपशमम् गताः**= समाप्त हो जाती है।

जहां कुछ रहने वाला नहीं है, वहां किस वस्तु की इच्छा की जाय। इच्छा जलाने वाली है। हम भोग और प्रतिष्ठा की इच्छा करके जीवनपर्यंत जलते रहे। उसका इच्छानुसार मिलना ही असंभव, और जो लूला-लंगड़ा मिला भी, वह सदा के लिए छूट जाने वाला है। देह में रहकर जीवनपर्यंत धक्के खाने के अलावा क्या मिलता है? संसार को देखकर और जान-जानकर अशांति के सिवा क्या मिलता है? अंततः सबसे सदैव के लिए विदाई। अतएव बोधवान की जीने, भोगने और जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है और वह शांति-सागर हो जाता है।

54. अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति॥ 3॥

अनित्यम्, सर्वम्-एव-इदम्, ताप-त्रितय-दूषितम्। असारम्, निन्दितम्, हेयम्-इति, निश्चित्य, शाम्यति।

यह सारा संसार क्षणिक है, दैहिक, दैविक और भौतिक तीन तापों से ग्रस्त होने से दूषित है, सारहीन है, निंदित है और त्यागने योग्य है; ऐसा निश्चय होना निर्वेद है। इसी से मन शांत होता है।

---

1. न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अनस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥
(ऋग्वेद, मंडल 1, सूक्त 170, मंत्र 1)

भाष्य—इदम् एव सर्वम्= यह सारा संसार अनित्य है, क्षण-क्षण बदलता है। यहां अनेक मानसिक और शारीरिक रोग हैं, दूसरे अनेक प्राणियों से दुख है और प्राकृतिक उत्पात से कष्ट एवं विपत्ति है। बचपन से बुढ़ापा तक के जीवन तथा उनकी घटनाओं को देखो, पूरा सारहीन है, ठोकर-पर-ठोकर है। इसलिए विवेकियों ने इसकी अहंता-ममता की निंदा की है, क्षणिक मायिक ऐश्वर्य की अहंता-ममता को धिक्कारा है। अतएव सांसारिक राग-रंग तथा आसक्ति हेयम् है, त्यागने योग्य है।

उपर्युक्त बातें निर्वेद की हैं। यह निर्वेद जिसको दृढ़ता से होता है उसके मन में उत्कट वैराग्य हो जाता है, फिर शाम्यति, उसे शांति मिलती है।

55. कोऽसौ कालो वयः किंवा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥ 4॥

कः-असो, कालः वयः, किम्-वा, यत्र, द्वन्द्वानि नो, नृणाम्। तानि, उपेक्ष्य, यथा, प्राप्तवर्ती, सिद्धिम्-अवाप्नुयात्।

कौन ऐसा समय अथवा अवस्था है जिसमें मनुष्य को अनुकूलता-प्रतिकूलता एवं सुख-दुख के द्वन्द्व न मिलते हों। उनकी उपेक्षा करके, जो वर्तमान प्राप्त हो उससे अनासक्तिपूर्वक बरताव करने वाले को शांति प्राप्त होती है।

भाष्य—नृणाम्= मनुष्य का कौन ऐसा काल अथवा वय है, अवस्था है कि जिसमें उसे द्वंद्व न मिलते हों। बीते हुए के गीत बड़ी भावुकता से गाये जाते हैं। परंतु विचार कर देखिए झोपड़ी से महल तक में रहने वाले सभी मनुष्यों के बचपन से लेकर बुढ़ापा तक अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा सुख-दुख द्वंद्व में बीतते हैं।

द्वंद्वों से मुक्त होकर रहने की कला है उनकी उपेक्षा करके, उनको नज़रअंदाज़ करके, उनको न महत्त्व देकर यथा प्राप्तवर्ती होकर रहे। जो प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति प्राप्त हों उनमें संतोष, समता, क्षमा, सहनशीलता रखकर बरताव करे और समझे कि कुछ भी न रहेगा। ऐसा सहनशील तथा संतोषी व्यक्ति **सिद्धिम् अवाप्नुयात्**= सिद्धि-शांति, मुक्ति, परमानंद, आत्यंतिक सुख, निर्वाण, ब्राह्मी स्थिति, परम स्थिति प्राप्त करता है।

56. नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥ 5॥

नाना, मतम्, महर्षीणाम्, साधूनाम्, योगिनाम्, तथा। दृष्ट्वा, निर्वेदम्-आपन्नः, कः, न, शाम्यति, मानवः।

महर्षियों, साधुओं और योगियों के नाना मत-मतांतर देखकर दृढ़ वैराग्य प्राप्त किस मनुष्य को शांति नहीं प्राप्त होती?

भाष्य—धर्म और अध्यात्म के मार्ग में लगे हुए ऋषियों, महात्माओं, पीरों, पादरियों, ज्ञानियों, योगियों आदि के नाना मत हैं। अधिक धार्मिक लोग अपने लक्ष्य को बाहर ही खोजते हैं। जिस विवेकवान को, **दृष्ट्वा निर्वेदम् आपन्नः**=यह सब देखकर सबसे निर्वेद-वैराग्य हो जाता है, और वह अपने आपमें लीन हो जाता है, ऐसे किस आत्मज्ञानी को शांति नहीं प्राप्त होती?

ग्रंथकार का संकेत है कि साधक उदार हो। वह मत-मतांतरों में न भटके, अपने लक्ष्य को बाहर न खोजे, अपितु सारी वासना त्यागकर स्वयं शांत हो जाय।

57. कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेद समतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः॥ 6॥

कृत्वा, मूर्ति-परिज्ञानम्, चैतन्यस्य, न, किम्, गुरुः। निर्वेद, समता-युक्त्या, यः-तारयति, संसृतेः।

जिसमें वैराग्य है, समता युक्त व्यवहार है और तर्क से चैतन्य स्वरूप का ज्ञान देकर साधक को मन के भवचक्र से पार करने का उपाय बताता है, क्या वह गुरु नहीं है?

भाष्य—**यः**=जो, जिसमें, **निर्वेद**=वैराग्य है, **समता**=समता का व्यवहार है और जो, **युक्त्या**=तर्क से, **चैतन्यस्य मूर्ति**=चेतन स्वरूप का, **परिज्ञानम् कृत्वा**=पूर्णज्ञान कराकर, **संसृते तारयति**=मन के संसार-सागर से पार करने का उपदेश देता है, **किम् न गुरुः**=क्या वह गुरु नहीं है?

हर क्षेत्र में गुरु की, उस्ताद की, शिक्षक की आवश्यकता है। ग्रंथकार कहते हैं कि आत्मकल्याण प्राप्त करने के लिए ऐसे गुरु का वरण करना

चाहिए जो विषय-विरक्त हो, निर्वेद को प्राप्त हो, उसका व्यवहार समता युक्त हो, राग-द्वेष से पार हो। वह युक्तिपूर्वक, तर्कपूर्वक चेतन स्वरूप का ज्ञान देता हो। सबका साक्षी रहकर अपने आप में शांत हो जाना तर्कपूर्ण स्पष्ट ज्ञान है। संसृति-संसार मन है। साक्षी भाव रखकर मन से पार हो जाना संसार से तर जाना है।

उपर्युक्त ज्ञान और अंतर्मुख रहनी में जो मनुष्य रहता है वही स्वयं तरा हुआ है, मन के उद्वेग से मुक्त है, और उसी के उपदेश से तथा पवित्र रहनी के प्रभाव से मुमुक्षु मन के सागर से तर सकते हैं।

58. पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि॥ 7॥

पश्य, भूत-विकारान्-त्वम्, भूत-मात्रान्, यथार्थतः। तत्-क्षणात्-बन्ध-निर्मुक्तः, स्वरूपस्थो, भविष्यसि।

तुम शरीर से संसार तक समस्त दृश्य निर्मित पदार्थों को जड़ तत्त्वों का विकार मात्र समझो। इस यथार्थ दृष्टि के आते ही तत्काल बंधनों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में स्थित हो जाओगे।

भाष्य—त्वम्= तुम, शरीरादि समस्त दृश्य पदार्थों को, **भूत-विकारान्**= जड़ तत्त्वों का विकार, **पश्य**= देखो, समझो, इनको, **यथार्थतः**= तथ्यतः देखना यही है कि ये, **भूतमात्रान्**= केवल जड़ ही हैं। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर, **तत् क्षणात् बन्ध निर्मुक्तः**= उसी क्षण बंधनों से मुक्त होकर, **स्वरूपस्थो भविष्यसि**= स्वरूप में स्थित हो जाओगे।

देह मैं नहीं हूं और देह मेरी नहीं है। यह तो जड़ तत्त्वों का विकार है। जब शरीर ही अपना नहीं है, तब शरीर संबंधी अन्य प्राणी-पदार्थों तथा परिस्थिति मेरे कैसे हो सकते हैं! शरीर में रहते-रहते सारे दृश्य भागते हुए दिख रहे हैं, फिर शरीर के छूट जाने पर क्या साथ में रहेगा?

जो अपने आपको समस्त जड़-दृश्यों से अलग देखता है, वह स्वरूपस्थ हो जाता है, मुक्त हो जाता है। वह देह में रहते हुए परमानंद में रहता है और देह छूटने पर इस भवसागर में नहीं आता, अपने स्वरूप में सदैव स्थित रहता है।

59. वासना एव संसार इति सर्वा विमुंच ताः।
तत्त्यागोवासनात्यागात्स्थितिरद्य यथातथा॥ 8॥

वासना, एव, संसारः, इति, सर्वा, विमुंच, ताः। तत्-त्यागः-वासना-त्यागात्-स्थितिः-अद्य, यथा-तथा।

वासना ही संसार है। ऐसा समझकर उसे पूर्णतया त्याग दो। वासना के त्याग से संसार का त्याग हो जाता है। वासना के त्याग से जहां कहीं हो, आज ही शांति है।

भाष्य—वासना एव संसारः=वासना ही संसार है। **इति**=ऐसा समझकर, **ताः**=उसे, **सर्वा विमुंच**=पूर्णतया त्याग दो। **वासनात्यागात्**=वासना के त्याग हो जाने पर, **तत् त्यागः**=उसका त्याग हो जायेगा-संसार का त्याग हो जायेगा। वासना त्यागी की, **यथा तथा**=जैसे तैसे, **अद्य स्थितिः**=आज ही मुक्ति है।

भौतिक पदार्थों के भोग-मोह से वासना बनती है। वही मन में उद्वेग और संकल्प-विकल्पों का जाल रचती है। वही जीव का बंधन बनती है। वैराग्य-बोध से वासना त्याग हो जाने पर संसार का त्याग हो जाता है। वासना-हीन मन में कोई खिंचाव ही नहीं रह जाता, यही मोक्ष है। अतः वासना-त्याग संसार का त्याग है।

वासना के पूर्णतया त्याग हो जाने पर **यथा तथा अद्य स्थितिः**=जैसे-तैसे भी वर्तमान में पूर्ण शांति है। रोग-निरोग, सम्मान-अपमान, सम्पन्नता-दरिद्रता, हानि-लाभ, सत्कार-तिरस्कार जैसी-तैसी दशा में हो, वासना-त्यागी मुक्त ही है।

दसवां प्रकरण

60. विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥ 1॥

विहाय, वैरिणम्, कामम्-अर्थम्, च-अनर्थ-संकुलम्। धर्मम्-अपि-एतयोः-हेतुम्, सर्वत्र-अनादरम्, कुरु।

काम-शत्रु का त्याग करो, अनर्थ से भरे अर्थ तथा इन दोनों की जड़ में रहे हुए धर्म का भी सर्वत्र सब समय तिरस्कार करो।

भाष्य—कामम् वैरिणम्= काम-शत्रु का, **विहाय=** त्याग करो। **च=** और, **अनर्थ संकुलम्=** अनर्थ से भरे हुए, **अर्थम्=** धन, तथा **एतयोः हेतुम् धर्मम् अपि=** इन दोनों के मूल में रहे हुए धर्म का भी, **सर्वत्र अनादरम् कुरु=** सर्वत्र तिरस्कार करो। काम-शत्रु, अनर्थकारी धन और इन दोनों की जड़ धर्म का तिरस्कार करो। ग्रंथकार का लट्ठमार त्याग साधारण आदमी को आश्चर्य में डाल देगा।

मोक्ष इच्छुक को दैहिक काम-भोग का मन, वाणी तथा शरीर से त्याग करना चाहिए। दूसरा है अर्थ, धन। इसकी जीवन-निर्वाह में आवश्यकता है; परंतु धन के लोभ में जो पाप संसार में होता है वह उजागर है। अर्थ के लोभ में लोग अनेक अनर्थ करते हैं। इसीलिए ग्रंथकार, अर्थ को अनर्थ संकुलम् कहा। अर्थ अनर्थ से ढका है।

दैहिक काम-भोग से हटकर दूसरा काम है कामना, इच्छा, जिसका जीवन में उपयोग है। मकान बनाने की कामना है, वाहन खरीदने की कामना है। इसी तरह अन्य अनेक कामनाएं होती हैं जो उपयोगी होती हैं। ये कामनाएं अर्थ से ही सम्पन्न होती हैं। धन न हो, अर्थ न हो तो व्यवहार संपादन की कामनाएं पूरी नहीं होंगी। इसलिए धन चाहिए और उसके लिए परिश्रम करना चाहिए। खास बात है अर्थ के अनुसार कामनाएं होनी चाहिए। धन है साइकिल खरीदने भर का और कार की कामना हो तो कष्ट के अलावा क्या होगा! जब कामनाएं बढ़ जाती हैं तब अर्थार्जन के लिए

अनर्थ किया जाता है।

धर्म है मन, वाणी और कर्मों पर पूर्ण संतुलन। इसका फल है शुद्ध व्यवहार की संपन्नता और शांति की प्राप्ति। इसीलिए कणाद ऋषि ने कहा था—यतो अभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः। जिससे लौकिक उन्नति और मोक्ष सिद्ध हो वह धर्म है। परंतु अधिकतम लोगों को आत्मसंतुलन रूपी सच्चे धर्म पर ध्यान नहीं रहता है। पर-सेवा धर्म है, परंतु लोग उसे सकाम भाव से करते हैं। उसके फल में उन्हें धन मिलता है और उनकी कामनाएं भी पूरी होने लगती हैं, परंतु वे फिर लोभ में पड़कर धन के लिए अनर्थ करने लगते हैं और अनेक सांसारिक कामनाओं के विस्तार में उलझकर अशांत हो जाते हैं, और उनका निःश्रेय, मोक्ष, परमशांति छूट जाती है।

इस ग्रंथ का उपदेश मोक्ष के लिए है। इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि दैहिक काम-भोग शत्रु है। उसका तो पूर्णतया त्याग ही कर दो। जो व्यावहारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए धन चाहिए और उसके लिए सकाम धर्म करते हो, उसका सर्वत्र अनादर करो। तात्पर्य है कि निष्काम कर्म से व्यावहारिक कार्यों का समाधान करो। व्यावहारिक कार्य, धन और इनकी जड़ में सकाम कर्म रूपी धर्म को महत्त्व न दो, तब मोक्ष का काम सम्पन्न होगा। ऐसे काम, अर्थ और धर्म किस काम के जिनसे मोक्ष एवं परमशांति मिलने में बाधा हो!

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष— ये चार पुरुषार्थ हैं, पुरुष के प्रयोजन हैं, आत्मा के लिए लाभकारी हैं। अर्थ, धर्म, काम वे ही सही हैं जिनसे अंतिम लक्ष्य मोक्ष सिद्ध हो। मोक्ष है अगाध शांति। इसके मार्ग में यदि काम, अर्थ और धर्म बाधक हैं, तो उनका तिरस्कार होना ही चाहिए। गहरी शांति ही जीवन की सार्थकता है।

61. स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादि सम्पदः॥ 2॥

स्वप्न-इन्द्रजाल-वत्-पश्य, दिनानि, त्रीणि, पंच, वा। मित्र-क्षेत्र-धन-आगार-दार-दाय-आदि, सम्पदः।

मित्र, खेत, धन, घर, स्त्री, पैतृक धन आदि संपत्ति को इंद्रजालवत

दिखावा मात्र और स्वप्नवत समझो। ये सब तीन या पांच दिन के लिए हैं।

भाष्य—इंद्रजाल का अर्थ है दिखावा मात्र, जो देखने में कुछ हो और तथ्य कुछ अन्य हो। जादूगरी दिखावा ही है। हाथ की सफाई, बात की सफाई, वस्तु की बनावट तथा रासायनिक पदार्थों के प्रयोग से जादूगर आश्चर्य भरी-जैसी चीजों को दिखाता है। परंतु वह सब उसकी जालसाजी रहती है। मंत्र से कुछ नहीं बनता। चालाकी से छिपाकर वस्तु रखी जाती है। वह ही चालाकी से प्रकट की जाती है। इंद्रजाल का अर्थ है दिखावा मात्र। स्वप्नेन्द्रजालसदृशः खलु जीव लोकः। यह संसार निश्चित ही स्वप्न तथा इंद्रजाल के समान है। यह पूरा जीवन तीन या पांच दिन का है। अर्थात क्षणिक है। सौ वर्ष जी कर जाते समय लगेगा कि अभी जन्मे और अभी चलने का समय आ गया।

मित्र, खेत, कारखाना, दुकान, घर, धन, पत्नी, पति, बच्चे, पैतृक संपत्ति सब स्वप्नवत दिखावा मात्र तथा छूटने वाले हैं। अतएव अपना मन दुनिया में न लगाकर आत्मशांति लो।

62. यत्रयत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव॥ 3॥

यत्र-यत्र, भवेत्-तृष्णा, संसारम्, विद्धि, तत्र, वै। प्रौढ-वैराग्यम्-आश्रित्य, वीत-तृष्णः, सुखी, भव।

जहां-जहां तृष्णा है, निश्चित समझो वहीं-वहीं संसार है। अतएव दृढ़ वैराग्य धारणकर और सारे विषयों की तृष्णा से पार होकर सुखी हो जाओ।

भाष्य—और-और पाने, करने, जीने, भोगने, जानने, मिलने, देखने आदि की इच्छा करना तृष्णा है। शुभाशुभ समस्त क्षेत्रों में तृष्णा अपना घर बनाती है। जहां तृष्णा बनी, वहीं संसार उपस्थित हो गया, बंधन आ धमका। उत्कट वैराग्य से तृष्णा का अंत होता है; और सारी तृष्णाओं के अंत होने पर परमशांति मिलती है।

63. तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशोमोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥ 4॥

तृष्णामात्रात्मकः, बन्धः-तत्-नाशः-मोक्ष, उच्यते। भव-असंसक्ति-मात्रेण, प्राप्ति-तुष्टिः-मुहुर्मुहुः।

तृष्णा मात्र ही बंधन है और उसका नाश मोक्ष कहलाता है। संसार से पूर्ण अनासक्त हो जाने पर बारंबार आत्मतृप्ति की प्राप्ति होती है।

भाष्य—तृष्णामात्रात्मकः= तृष्णा मात्र, केवल तृष्णा, **बन्धः**= बंधन है। **तत् नाशः**= उसके नष्ट होने पर, **मोक्ष उच्चते**= मोक्ष कहलाता है। **भव**= संसार, दुनियवी से, **असंसक्ति मात्रेण**= अनासक्त होते ही, **प्राप्ति तुष्टिः मुहुर्मुहुः**= बारंबार तृप्ति प्राप्त होती है।

कहीं भी तृष्णा बंधन है और तृष्णा का नाश मोक्ष है। असंसक्ति, अनासक्ति, असंगता मात्र से परमतृप्ति मिलती है। **मुहुर्मुहुः**= बारंबार तृप्ति मिलती है, यह साधना काल का अनुभव है। जब मन दुनिया में रम जाता है तब मन की तृप्ति खो जाती है और जब मन दुनिया से हटकर स्वरूपभाव में आ जाता है और तृष्णा नष्ट हो जाती है तब तृप्ति मिल जाती है। यह साधना बढ़ते-बढ़ते जब पूर्णतया तृष्णा का नाश होकर अखंड स्वरूपस्थिति हो जाती है तब तृप्ति भी अनपायिनी हो जाती है, स्थिर हो जाती है।

64. त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि नकिंचित्सा का बुभुत्सातथापिते॥ 5॥

त्वम्-एकः-चेतनः, शुद्धः, जडम्, विश्वम्-असत्-तथा। अविद्या-अपि, न-किंचित्-सा, का, बुभुत्सा-तथा-अपि-ते।

तुम असंग शुद्ध चेतन हो। संसार जड़ और परिवर्तनशील है। अविद्या भी कुछ नहीं है। इस पर भी तुम्हें क्या जानने की इच्छा है?

भाष्य—त्वम् एकः शुद्धः चेतनः= तुम अद्वितीय असंग शुद्ध चेतन हो। **विश्वम् जडम् तथा असत्**= संसार जड़ तथा असत है, परिवर्तनशील तथा छूट जाने वाला है। **अविद्या अपि**= अविद्या भी, **न किंचित सा**= वह थोड़ी भी नहीं है। **तथा अपि ते**= इसके बाद भी तुम्हें, **का बुभुत्सा**= क्या जानने की इच्छा है?

संसार तो जड़ है, अनात्म है, छूटने वाला होने से असत है और अविद्या अज्ञान मात्र, मोह मात्र है। अतएव उसको छोड़ दिया। तुम असंग

शुद्ध चेतन हो। अब तुम्हें जानने को क्या बाकी रहा ? कुछ नहीं। जड़ शरीर-संसार का मोह त्यागकर अपने आप शांत रहो। बात समाप्त।

65. राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥ 6॥

राज्यम्, सुताः, कलत्राणि, शरीराणि, सुखानि, च। संसक्तस्य-अपि, नष्टानि, तव, जन्मनि, जन्मनि।

तू राज्य, पुत्र, पत्नी, शरीर और इंद्रिय-सुख में आसक्त रहा, परंतु वे सब जन्म-जन्म से नष्ट होते रहे।

भाष्य—हम जहां भी जन्म लिए वहां शरीर, प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति में आसक्त होते रहे, परंतु उनमें कुछ भी न रहा। जन्म-जन्मांतर हम विषयासक्ति की मूर्खता पालकर दुख भोगते रहे और वह बराबर छूटता रहा। अतएव आज सावधान हो जाओ। आज का भी सब छूट जाना है।

66. अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥ 7॥

अलम्-अर्थेन, कामेन, सुकृतेन-अपि, कर्मणा। एभ्यः, संसार-कान्तारे, न, विश्रान्तम्-अभूत-मनः।

बस, बहुत हो गया; धन के पीछे दौड़ते, कामनाओं के पीछे दौड़ते और पुण्य कर्म करते भी संसार रूपी घोर जंगल में भटकते। इनसे मन विश्राम नहीं पाया।

भाष्य—**अलम्**= बस, बहुत हो गया, **अर्थेन कामेन सुकृतेन अपि कर्मणा**= धन, कामनाओं और पुण्य कर्म के भी पीछे दौड़ते, **संसार-कान्तारे**= संसार रूपी घोर जंगल में भटकते, **एभ्यः**= इनसे, **न विश्रान्तम् अभूत मनः**= मन को विश्राम न मिला।

धन के पीछे पागल बने भटकते रहे, कामनाओं को पूर्ण करने के स्वप्न में दौड़ते रहे, तीर्थ, व्रत, दान-पुण्य देवी-देवता आराधना करते रहे और घोर संसार-वन में भटकते रहे; किंतु इन क्रियाओं से मन को विश्राम न मिला। **न विश्रान्तम् मनः**= मन को विश्राम न मिला। अभूत का भी

अर्थ है अविद्यमान, मिथ्या, जो हुआ न हो। यह शब्द निपात जैसा लगता है।

इसलिए ग्रंथकार कहते हैं **अलम्**= बस, बहुत हो गया। अब वैराग्य की तरफ मुड़कर स्वरूपस्थिति करना है। वैसे जीवन-निर्वाह के लिए धन चाहिए, विवेकपूर्ण कामनाएं स्वतः पूर्ण होती रहती हैं और सत्कर्म, परसेवा करना चाहिए। इनके बिना न जीवन चलेगा और न अंतःकरण शुद्ध होगा। परंतु इतने मात्र में ही नहीं अटक जाना है, अपितु सद्‌गुरु से आत्मज्ञान का उपदेश लेकर प्रखर वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए और इसी जीवन में अगाध शांति का अनुभव करना चाहिए।

67. कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्॥ 8॥

कृतम्, न, कति, जन्मानि, कायेन, मनसा, गिरा। दुःखम्-आयासदम्, कर्म, तत-अद्य-अपि-उपरम्यताम्।

कितने ही जन्मों से क्या तूने मन, वाणी और शरीर से थकान भरे दुखदायी कर्म नहीं किये हैं? उससे विरत होकर आज भी तो विश्राम कर!

भाष्य—कति =कितने ही, **जन्मानि**= जन्मों से क्या तूने, **मनसा गिरा कायेन**= मन, वाणी और शरीर से, **आयासदम्**= थकान भरे, **दुःखम्**= दुखदायी, **कृतम् न**= कर्म नहीं किये हैं? **तत् अद्य अपि**= उससे आज भी, **उपरम्यताम्**= विरत होकर विश्राम कर।

संसार के पीछे भागते-भागते प्राणी थक जाता है, परंतु उसकी तृष्णा नहीं थकती। तृष्णा न थकने से प्राणी भोगों के पीछे भागता ही रहता है।

यहां सेवा-कर्म करने का निषेध नहीं है। अपना कर्तव्य कर्म न करने वाले मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं होगा, और जिसका हृदय शुद्ध नहीं होगा, वह आध्यात्मिक साधना क्या कर सकता है? ग्रंथकार यहां भोगों, कामनाओं के पीछे भागने को रोकते हैं। यदि हम अहंकार के वश हैं, असहनशील हैं और अशांत हैं, तो सब करना व्यर्थ ही नहीं अनर्थ है। हमारे करने के परिणाम में हम बच्चे की तरह सरल हो जायं, विनम्र हो जायं, अत्यंत सहनशील हो जायं और हमारा मन शांति-सागर हो जाय, तो हमारा करना सफल है।

ग्यारहवां प्रकरण

68. भावाभावविकारश्च स्वभावादित निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥ 1॥

भाव-अभाव-विकारः-च, स्वभावात्-इति, निश्चयी। निर्विकारः, गत-क्लेशः, सुखेन-एव-उपशाम्यति।

वस्तु की उपस्थिति होना और उसकी अनुपस्थिति हो जाना, यह जड़ प्रकृति का विकार है, परिवर्तन है, जो उसके स्वभाव से होता है, इस प्रकार जिसको निश्चय है, वह हर्ष-शोक-विकार से रहित तथा क्लेश-मुक्त होता है और सुखपूर्वक सहज ही शांत हो जाता है।

भाष्य—प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितियों का भाव तथा अभाव, उपस्थिति और अनुपस्थिति होती रहती है। यह प्रकृति का विकार है, परिवर्तन है और प्रकृति का परिवर्तन स्वाभाविक है। ज्ञानी इन द्वंद्वों में हर्ष-शोक नहीं करता। वह समझता है कि मेरा चेतन स्वरूप निर्विकार है, परिवर्तन-रहित है। अतएव वह भौतिक परिवर्तनों के द्वंद्वों से रहित तथा क्लेश-रहित रहता है। वह सब समय सुखपूर्वक सहज ही शांत मन वाला होता है।

69. आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियोनित्यं न वांछति न शोचति॥ 3॥

आपदः, सम्पदः, काले, दैवात्-एव-इति, निश्चयी। तृप्तः, स्वस्थ-इन्द्रियः-नित्यम्, न, वांछति, न, शोचति।

जीवन में विपत्ति और संपत्ति के समय आते हैं। ये अपने किये गये प्रारब्ध-कर्मों से ही होते हैं, ऐसा जिसको निश्चय है, वह सदैव संयत मन-इन्द्रिय वाला आत्मतृप्त होता है। वह न किसी वस्तु की कामना करता

है और न चिंता करता है।

भाष्य—अपने शरीर पर जो कुछ घटता है, वह **दैवात् एव**= प्रारब्ध से ही होता है, और प्रारब्ध अपने ही पूर्वकर्मों का परिणाम है। इसलिए ज्ञानी किसी दूसरे व्यक्ति या ईश्वर को दोष नहीं देता। विवेकवान समझते हैं कि हमें अपने आपका स्वयं उद्धार करना है। अतएव वे अपने मन-इंद्रियों को सदैव स्वस्थ, विकारहीन एवं संयत रखते हैं और आत्म संतोष में तृप्त रहते हैं। वे तृष्णा और चिंता से मुक्त रहते हैं, इसलिए सदैव दुखहीन रहते हैं।

70. सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 4॥

सुख-दुःखे, जन्म-मृत्यू, दैवात्-एव-इति, निश्चयी। साध्यादर्शी, निरायासः, कुर्वन्-अपि, न, लिप्यते।

सुख-दुख और जन्म-मृत्यु अपने प्रारब्धकर्म से ही होते हैं ऐसा जिसे निश्चय है, वह निरंतर अपने लक्ष्य-स्वरूपस्थिति को देखता है, वह सहजता से कर्म करता हुआ भी कर्मों में लिपायमान नहीं होता।

भाष्य—जिसके मन में यह निश्चय है कि हमारे शरीर पर जितने सुख-दुख भोग आते हैं और इस शरीर के जन्म एवं मृत्यु सब अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार हैं। इसमें दूसरा कोई हेतु नहीं है। और जो अपने साध्य को देखता है कि मेरा लक्ष्य परमशांति की प्राप्ति है, वह **निरायासः**= बिना कष्ट उठाये सहज कर्म करता है, इसलिए वह, **कुर्वन् अपि**= कर्म करते हुए भी, **न लिप्यते**= लिपायमान नहीं होता। **साध्यादर्शी**= स्वरूपस्थिति पर दृष्टि रखने वाले का सहज कर्म होता है, अहंकार, कामना से रहित होता है इसलिए निरायास होता है, बिना कष्ट के सहज होता है। इसलिए उसके कर्म उसके लिए बंधन नहीं बनते।

71. चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥ 5॥

चिन्तया, जायते, दुःखम्, न-अन्यथा-इह-इति, निश्चयी। तया, हीनः,

सुखी, शान्तः, सर्वत्र, गलित-स्पृहः।

चिंता से दुख उत्पन्न होता है, दूसरे कारण से नहीं, ऐसा जिसे निश्चय है, वह इच्छा-शून्य साधक सर्वत्र चिंता से रहित रहकर सुखी और शांत रहता है।

भाष्य—कामनाओं से चिंता उत्पन्न होती है और चिंता से दुख उत्पन्न होता है। जो गलित स्पृह है, जिसकी सारी इच्छाएं गल गयी हैं, वह चिंताओं से मुक्त रहता है। इसलिए वह सब समय और सब जगह भीतर तृप्त अगाध अमृत-सागर बना रहता है।

72. नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ 6॥

न-अहम्, देहः, न, मे, देहः, बोधः-अहम्-इति, निश्चयी। कैवल्यम्-इव, संप्राप्तः, न, स्मरति-अकृतम्, कृतम्।

न मैं देह हूं और न देह मेरी है। मैं तो ज्ञान स्वरूप आत्मा हूं, ऐसा जिसे निश्चय है वह असंगता के समान स्थिति प्राप्त होता है। वह अनकिये और किये का स्मरण नहीं करता।

भाष्य—**न अहम् देहः न मे देहः**= न मैं देह हूं न मेरी देह है। **अहम् बोधः**= मैं ज्ञान स्वरूप चेतन हूं, **इति निश्चयी**= ऐसा जिसे निश्चय है, वह **कैवल्यम् इव सम्प्राप्तः**= कैवल्य के समान, असंगता की तरह स्थिति प्राप्त होता है। वह, **अकृतम् कृतम्**= अनकिये और किये का, **न स्मरति**= स्मरण नहीं करता।

जिसका देहाभिमान पूर्णतया नष्ट हो गया है, जो अपने को निरंतर ज्ञान स्वरूप मात्र समझता है, वह कैवल्य के समान स्थिति में रहता है। ग्रंथकार **कैवल्यम्-इव** लिखते हैं जिसका अर्थ होता है कैवल्य के समान। जब तक ज्ञानी देह में रहता है तब तक देह, मन, इंद्रियां और संसार सामने रहते ही हैं, इसलिए चित्त में द्वैत का समिश्रण होता ही रहता है। पूरा कैवल्य, असंगता एवं अद्वैत तो निर्विकल्प समाधि में होता है। समाधि से हटने पर पुनः द्वैत सामने आता है। परंतु ज्ञानी का सब समय बोध कैवल्य का बना रहता है। इसलिए ज्ञानी की स्थिति कैवल्य-इव कहना यथार्थता का परिचायक है। यह कैवल्य-इव कैवल्य ही है। ज्ञानी न किये हुए का

स्मरण करता है और न अनकिये हुए का। वह संकल्प-विकल्प के स्वप्न से मुक्त होकर अपने कैवल्य-पद में ही स्थित रहता है।

73. नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिति शाम्यति॥ 8॥

नाना-आश्चर्यम्-इदम्, विश्वम्, न, किंचित्-इति, निश्चयी। निर्वासनः, स्फूर्ति-मात्रः, न, किंचित्-इति, शाम्यति।

नाना आश्चर्य से भरा यह विचित्र संसार कुछ भी नहीं है। मेरे में इसकी उपस्थिति स्मरण के अलावा कुछ नहीं है। ऐसा जिसे निश्चय है, वह वासना-हीन होकर शांत हो जाता है।

भाष्य—जड़ प्रकृति के शक्ति, गुण, कर्म असंख्य हैं। अतएव उसमें आश्चर्य भरे नाना कार्य पदार्थ निर्मित होते और मिटते रहते हैं। परंतु जड़ प्रकृति तथा उसके कार्य पदार्थों की चेतन आत्मा में उपस्थिति स्फुर्ण मात्र, स्मरण मात्र एवं याद मात्र है। सुषुप्ति में संसार का स्मरण नहीं रहता। आत्मा और जड़ जगत सर्वथा पृथक हैं। उन दोनों को जोड़ने वाला मन है। मन को हटा देने पर संसार से संबंध कट जाता है। इसलिए बोधवान निश्चय करता है कि यह आश्चर्यमय विचित्र दिखता संसार मेरे में कुछ भी नहीं है। यह तो मुझे केवल स्मरण से प्रतीत होता है। अतएव ज्ञानी ऐसा निश्चय कर संसार का मोह छोड़कर वासनाहीन हो शांत हो जाता है।

बारहवां प्रकरण

74. **कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।**
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥ 1॥

काय-कृत्य-असहः, पूर्वम्, ततः, वाक्-विस्तर-असहः। अथ, चिन्ता-असहः-तस्मात्-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

पहली बात, मैं शरीर के कर्म को सह नहीं पाया, उसके बाद वाणी के विस्तार को सह नहीं पाया, इसी भांति मन की चिंता को सह नहीं पाया। इसलिए मैं इस प्रकार अपने में स्थित हूं।

भाष्य—पूर्वम्=पहली बात, **काय कृत्य असहः**=शरीर के कर्म को सह नहीं पाया, **ततः**=उसके बाद, **वाक् विस्तर असहः**=वाणी के विस्तार को सह नहीं पाया, **अथ**=इसके बाद, **चिंता असहः**=मन की चिंता को सह नहीं पाया। **तस्मात्**=इसलिए, **एवम् एव**=इस भांति ही, **अहम् आस्थितः**=इस प्रकार मैं अपने आपमें स्थित हूं।

शरीर के कर्म, वाणी की बकबक और मन के संकल्प-विकल्प से थक गया, ये असहनीय हो गये। अब बस, निर्विकल्प समाधि में स्थित हूं। यह अध्यात्म की अंतिम मस्तानगी है। जो मन, वाणी तथा कर्मों के उद्वेगों को सह नहीं पाता है, उन्हें रहने नहीं देता है, उनसे पार हो गया है और निरंतर आत्माराम है वह इस धरती पर धन्य है, जग-पावन है।

साधक सावधान, वे उपर्युक्त कथन की नकलबाजी करके हाथ-पैर बटोरकर बैठ न जायें, अन्यथा मनोविकारों के नरक में जलेंगे। वे शरीर से सेवा-कर्म करें, वाणी से अध्ययन-प्रवचन करें और मन से आत्मचिंतन तथा विवेक-मंथन करें। फिर ध्यान-समाधि का अभ्यास करें।

75. **प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।**
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः॥ 2॥

प्रीति-अभावेन, शब्दादेः-अदृश्यत्वेन, च-आत्मनः। विक्षेप-एकाग्र-हृदय, एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

शब्दादि पांचों विषयों में मेरी आसक्ति नहीं है और आत्मा अदृश्य होने से उसका ध्यान नहीं हो सकता। इसलिए हृदय में न विक्षेप है और न एकाग्रता की आवश्यकता। इस प्रकार मैं अपने आपमें ही स्थित हूं।

भाष्य—शब्दादेः= शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पांचों विषयों में, **प्रीति अभावेन**= आसक्ति न होने से, **च**= और, **आत्मनः अदृश्यत्वेन**= आत्मा के अदृश्य होने से, **हृदय विक्षेप एकाग्र**= हृदय में न विक्षेप है और इसलिए न एकाग्रता लाने के लिए ध्यान करना है, **एवम् एवं अहम् आस्थितः**= मैं अपने आपमें ही स्थित हूं।

पांचों विषयों में राग न होने से उन्हें भोगने की इच्छा ही नहीं है। इच्छा न होने से चित्त में चंचलता नहीं है। अतएव चित्त एकाग्र करने की आवश्यकता ही नहीं है। जब चित्त बहिर्मुख नहीं है, तब एकाग्र करने का प्रश्न ही समाप्त है। रहा ध्यान करना, तो आत्मा के अलावा सब अनात्म है, जड़ है, उसका ध्यान करना नहीं है और आत्मा अदृश्य है, तब उसका ध्यान करना कैसे बनेगा? आत्मा मैं ही हूं। मैं अपने आप शांत हूं। वस्तुतः वासना-रहित शांत रहना ही परम ध्यान है।

साधक उपर्युक्त उच्चतम स्थिति की नकलबाजी न करे। वह अपने मन को देख कि वह कितने पानी में है। मन में सांसारिक विकार आते हैं तो उन्हें दूर करने के लिए साधना करना चाहिए।

76. समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः॥ 3॥

समाध्यासादि-विक्षिप्तौ, व्यवहारः, समाधये। एवम्, विलोक्य, नियमम्-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

देहाध्यास रूपी विक्षेप होने से समाधि लगाने का व्यवहार है, अतएव इस नियम को देखकर मैं बिना समाधि लगाये अपने आपमें स्थित हूं।

भाष्य—अध्यास में यहां सम उपसर्ग लगाकर समाध्यास शब्द का प्रयोग है। सम का अर्थ होता है बहुत, पूर्णतः, बिलकुल। यदि पूर्णतः

अध्यास ही हो तो विक्षेप रहेगा, चंचलता रहेगी। यदि वासना है, अध्यास है, तो मन में विक्षेप-चंचलता होना स्वाभाविक है। इसके लिए नियम है कि साधक समाधि का अभ्यास करे।

यहां तो कोई अध्यास ही नहीं है। इसलिए अपने आप हर समय सहज समाधि है। हर समय आत्माराम।

77. हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः॥ 4॥

हेय-उपादेय-विरहात्-एवम्, हर्ष-विषादयोः। अभावात्-अद्य, हे, ब्रह्मन्-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

हे ब्रह्मन्! त्यागने और ग्रहण करने से रहित होने से मुझे न कोई हर्ष है और न विषाद है; अतएव मैं वर्तमान में अपने आप शांत हूं।

भाष्य—**हेय**=त्यागने योग्य, **उपादेय**=ग्रहण करने योग्य से, **विरहात्**=रहित होने से, **एवम्**=इसी प्रकार, **हर्ष विषादयोः अभावात्**=हर्ष-शोक से रहित होने से, **हे ब्रह्मन्**=हे गुरुदेव! **अहम्**=मैं, **अद्य**=अभी, वर्तमान में, **एवम् एव आस्थितः**=स्वाभाविक शांत हूं।

देहयात्रा में कुछ हेय होता है और कुछ उपादेय होता है, कुछ त्यागने योग्य होता है और कुछ ग्रहण करने योग्य होता है। यहां उच्चतम स्वरूपस्थिति की बात है। ज्ञानी कहता है कि मेरे पास कुछ है ही नहीं कि उसे छोंड़ूं; और पकड़ूं क्या! पकड़ते-पकड़ते तो आज तक दुखी रहा। जो पकड़ा, सब छूट गया। मैं असंग हूं। मेरे लिए न कुछ ग्रहण है न त्याग। मैं पूर्ण हूं। अब हर्ष-शोक कैसा? मैं सदा अपने असंग भाव में स्थित हूं।

78. आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः॥ 5॥

आश्रम-अनाश्रमम्, ध्यानम्, चित्त-स्वीकृत-वर्जनम्। विकल्पम्, मम, वीक्ष्य-एतैः-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

आश्रम और अनाश्रम, उनके ध्यान की प्रक्रियाएं, चित्त से ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य तथा उनके संशयपूर्ण मत, ये सब मेरे द्वारा देख

लिए गये हैं। अतएव मैं अपने आपमें स्थित हूं।

भाष्य—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चारों आश्रमों के अपने कर्मकांड हैं, उपासनाकांड हैं। आश्रम-व्यवस्था को न मानने वालों का भी अपना कर्मकांड है। उन सबकी अपनी-अपनी ध्यान-प्रक्रिया है। कोई श्वास को, कोई ज्योति को, कोई नाद को, कोई बिन्दु को अपना लक्ष्य मान रहा है। चित्त में क्या स्वीकार करना चाहिए और क्या त्याग करना चाहिए, इसकी मत-मतांतरों में अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। इनके अपने-अपने विकल्प-संशय हैं, **एतैः**= ये सब, **मम वीक्ष्य**= मेरे द्वारा देख लिये गये हैं, समझ लिये गये एवं परख लिये गये हैं; **एवम् एव अहम् आस्थितः**= इसलिए मैं अपने आपमें स्थित हूं।

ज्ञानी कहता है कि मुझे मत-मतांतरों की प्रक्रियाएं और मान्यताओं से प्रयोजन नहीं है। मैं समझता हूं कि मैं असंग-चेतन हूं, आत्मा हूं, ब्रह्म हूं, सर्वोच्च हूं। साक्षी ही तो सर्वोच्च है। सबको परखकर छोड़ देना और अपने आप रह जाना यही परमार्थ है।

79. कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः॥ 6॥

कर्म-अनुष्ठानम्-अज्ञानात्-यथा-एव-उपरमः-तथा। बुध्वा, सम्यक्-इदम्, तत्त्वम्-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

जैसे स्वरूप के अज्ञान से कर्मों का अनुष्ठान होता है और वैसे यदि उनका त्याग भी स्वरूपज्ञान के बिना हुआ तो पुनः दूसरे कर्मकांड में लग जाना होता है। मैं इस सत्यता को पूर्ण रूप जानकर अपने आप में स्थित हूं।

भाष्य—**यथा**= जैसे, **अज्ञानात्**= स्व-स्वरूप के अज्ञान से, **कर्म अनुष्ठानम्**= कर्मों का अनुष्ठान होता है, **तथा एव**= वैसे ही आत्मज्ञान के बिना यदि **उपरमतः**= कर्मों का त्याग होता है तो मनुष्य दूसरे प्रकार के कर्मानुष्ठान में लग जाता है। **इदम् तत्त्वम्**= इस सच्चाई को मैं, **सम्यक् बुध्वा**= अच्छी तरह जानकर अपने आप में स्थित हूं।

जब तक स्वस्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक आदमी एक कर्मकांड छोड़कर दूसरा कर्मकांड पकड़ता रहता है। चोटी रखना और

यज्ञोपवीत पहनना छोड़ दिया तो जननेन्द्रिय के अग्रभाग का चाम कटाना शुरू कर दिया। मूर्ति पूजना छोड़ दिया तो किताब और कब्र पूजना शुरू कर दिया। अतएव स्वरूप के अज्ञान से ही कर्मकांड और उसके परिवर्तन का चक्र चलता है। जो पूर्णरूप से स्वस्वरूप को समझ लिया वह सब प्रपंच छोड़कर स्वरूपस्थ हो गया।

80. अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपिचिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥ 7॥

अचिन्त्यम्, चिन्त्यमानः-अपि-चिन्तारूपम्, भजति-असौ। त्यक्त्वा, तत्-भावनम्, तस्मात्-एवम्-एव-अहम्-आस्थितः।

यह मनुष्य अचिंत्य का भी चिंतन करता हुआ चिंता रूप को ही भजता है। इसलिए इस भावना को त्यागकर मैं अपने आपमें स्थित हूं।

भाष्य—असौ=यह मनुष्य, **अचिन्त्यम् अपि**=जो चिंतन में नहीं आ सकता उसको भी, **चिन्त्यमानः**=चिंतन करता हुआ, **चिन्तारूपम् भजति**=चिंता रूप को ही भजता है। **तस्मात्**=इसलिए, **तत् भावनम् त्यक्त्वा**=उस भावना को त्याग कर, **अहम् एवम् एव आस्थितः**=मैं अपने में ही स्थित हूं।

कहते हैं कि ब्रह्म मन-वाणी से पार है, तब उसका चिंतन-भजन कैसे हो सकता है? अतएव परोक्ष में ब्रह्म की कल्पना करना चिंता-शोक ही है। ग्रंथकार कहते हैं, इसलिए मैं परोक्ष ब्रह्म की भावना त्यागकर अपने आप में स्थित हूं।

81. एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥ 8॥

एवम्-एव, कृतम्, येन, स, कृतार्थः, भवेत्-असौ। एवम्-एव, स्वभावः, यः, स, कृतार्थः, भवेत्-असौ।

जिसके द्वारा ऐसी साधना की क्रिया की गयी, वह मनुष्य कृतार्थ हो गया; और जो मनुष्य ऐसा स्वरूपस्थ स्वभाव से ही है, वह कृतार्थ हो गया।

भाष्य—येन=जिसके द्वारा, **एवम् एव कृतम्**=ऐसी ही साधना की

गयी, **स असौ**= वह मनुष्य, **कृतार्थः भवेत्**= कृतकार्य हो गया। और **यः असौ**= जो मनुष्य, **एवम् एव स्वभावः**= ऐसा ही स्वभाव वाला है, सहज निरंतर स्वरूपस्थ है, **स कृतार्थ भवेत्**= वह कृतार्थ हो गया।

जिसने स्वरूपस्थिति की साधना की, वह कृतकार्य हो गया; और जो स्वभाव से ही स्वरूपस्थ है, निरंतर आत्माराम है, उसके कृतार्थ होने में क्या संदेह! कृतार्थ है कृतकार्य, जिसने अपना काम कर लिया। अब करना शेष नहीं रहा।

तेरहवां प्रकरण

82. अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपिदुर्लभम्।
त्यागादानेविहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 1॥

अकिंचनम्-भवम्, स्वास्थ्यम्, कौपनीत्वे-अपि-दुर्लभम्। त्याग-आदाने-विहाय-अस्मात्-अहम्-आसे-यथा-सुखम्।

कुछ भी नहीं है, मानने वाले के मन में शांति होती है। यदि लंगोटी में भी ममता है तो शांति दुर्लभ है। मैं त्याग और ग्रहण से रहित हूं, इसलिए यथास्थिति में सुखी हूं।

भाष्य—अकिंचनम् भवम्=किंचित भी नहीं है जिनके पास, जो मानता है कि मेरा कुछ नहीं है, उसी को **स्वास्थ्यम्**=स्वास्थ्य मिलता है, स्व में स्थिति—स्वरूप-स्थिति मिलती है। **कौपीनत्वे अपि**=लंगोटी में भी ममता होगी तो, **दुर्लभम्**=शांति-स्वरूपस्थिति मिलना कठिन है। मैं, **त्याग आदाने विहाय**=छोड़ने-पकड़ने से रहित हूं। मेरे में न त्याग है न ग्रहण है। **अस्मात्**=इसलिए, **अहम् यथासुखम् आसे**=मैं जिस स्थिति में हूं, सुखी हूं।

अकिंचन का अर्थ है जिसके किंचित, थोड़ा भी, कुछ न हो। शरीर रक्षा तथा जीवन-यात्रा के लिए कुछ उपार्जन, संग्रह, वितरण तथा उपयोग करना पड़ता है। यही नियम है। अपवाद है कि कोई नंग-धड़ंग सूनसान में मौन पड़ा है। उसे अकिंचन कहा जा सकता है। यदि उसका मन अहंता-ममता से शून्य है तो शांति पायेगा, और यदि मन में विकार है तो शांति नहीं पायेगा।

अपवाद सिद्धांत नहीं बनेगा, नियम सिद्धांत बनेगा। मनुष्य धनार्जन करे, उचित संग्रह करे, सेवा करे और खाये-खिलावे; परंतु यह समझे कि तथ्यतः मेरा कुछ नहीं है, कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूं। ऐसा अहंता-ममता-शून्य मन स्वस्थ होता है, शांत होता है। यदि कौपीन में, यहां तक कि वैराग्य-त्याग में अहं भाव होगा तो शांति नहीं पायेगा।

ज्ञानी कहता है कि मैं न त्याग करता हूं और न ग्रहण करता हूं। शरीर-यात्रा में भौतिक वस्तुओं का उपयोग होता है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। इसलिए मैं चाहे जैसी अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में रहूं, सुखी रहता हूं। अहंता-ममता-शून्य हो जाने पर दुख रह ही नहीं जाता।

83. कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वापुरुषार्थेस्थितः सुखम्॥ 2॥

कुत्र-अपि, खेदः, कायस्य, जिह्वा, कुत्र-अपि, खिद्यते। मनः, कुत्र-अपि, तत्-त्यक्त्वा-पुरुषार्थे-स्थितः, सुखम्।

कहीं काया को कष्ट मिलता है, कहीं जिह्वा को कष्ट मिलता है और कहीं मन को कष्ट मिलता है। मैं इनकी परवाह छोड़कर स्व-स्वरूप में स्थित होकर सुखी हूं।

भाष्य—वस्तुतः मन, वाणी और शरीर के असंयम से व्यक्ति को दुख मिलता है। जो व्यक्ति इन पर पूर्ण संयम रखता है उसको दुख नहीं मिलता। बाहर से आये हुए अनुकूल-प्रतिकूल, ठंडी-गरमी, सम्मान-तिरस्कार के प्रति ज्ञानी उपेक्षा रखता है। उसकी परवाह नहीं करता।

खास बात है, **पुरुषार्थे स्थितिः सुखम्**= पुरुषार्थ में स्थित होने से वह सुखी रहता है। पुरुष-अर्थ—पुरुषार्थ। **पुर** कहते हैं आगे को, **उष** कहते हैं जलाने को। जो आगे-आगे ज्ञान-प्रकाश करता रहता है वह चेतन आत्मा पुरुष है, और उसका प्रयोजन ही है गहरी शांति, स्वरूपस्थिति। जो पुरुषार्थ में स्थित है—पुरुष के प्रयोजन—गहरी शांति में स्थित है, वह सच्चे अर्थ में सुखी रहता है।

84. कृतं किमपि नैव स्यादितिसंचिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायातित्कृत्वासेयथासुखम्॥ 3॥

कृतम्, किम्-अपि, न-एव, स्यात्-इति-संचिन्त्य, तत्त्वतः। यदा, यत्-कर्तुम्-आयाति-तत्-कृत्वा-आसे-यथा-सुखम्।

किया हुआ कर्म कुछ भी नहीं है, ऐसा तत्त्वतः विचार कर जब जो कर्तव्य कर्म करने के लिए सामने आता है तब उसे करके मैं सभी दशाओं में सुखी रहता हूं।

भाष्य—कृतम्= किया हुआ कर्म, **किम् अपि न एव स्यात्**= कुछ भी नहीं है। **इति तत्त्वतः संचिन्त्य**= ऐसा तत्त्वतः—गहराई से विचार कर, **यदा यत्**= जब जो, **कर्तुम् आयाति**= कर्तव्य कर्म करने के लिए सामने आता है, **तत् कृत्वा**= उसे करके, **यथा**= सभी स्थितियों में, **सुखम् आसे**= सुख से रहता हूं।

मैं कर्म का बोझा नहीं ढोता हूं कि मैं बड़ा कमासुत हूं, बड़ा कर्मशील हूं। जो मेरे शरीर से कर्म हो जाते हैं कुछ भी नहीं हैं। मैं कौन बड़ा योग्य हूं। **इति तत्त्वतः**= ऐसा गहराई से, **संचिन्त्य**= विचार कर जो कर्तव्य कर्म जब सामने आता है तब उसे कर देता हूं। शरीर कर्ममय है। उसे निष्काम भाव से कर्म करना ही चाहिए। शरीर को आलसी बनाकर बैठा देना अपने लिए अहितकर है। वेद के ऋषि कहते हैं कि कर्म करते हुए पूरा जीवन जीना चाहिए। बस, कर्मों में लिपायमान न हो, यही तुम्हारे कल्याण के लिए रास्ता है। अन्य रास्ता नहीं है। कबीर साहेब कहते हैं—'कर्म करे औ रहे अकर्मी।'

85. कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्॥ 4॥

कर्म-नैष्कर्म्य-निर्बन्ध-भावाः, देहस्थ-योगिनः। संयोग-अयोग-विरहात्-अहम्-आसे, यथा-सुखम्।

कर्म और निष्कर्म का दुराग्रह-भाव देहाभिमानी योगी करते हैं। मैं तो संयोग-वियोग से परे जिस किसी भी स्थिति में सुखी हूं।

भाष्य—देहस्थ योगिनः= देहाभिमानी योगी सकाम कर्म और निष्काम कर्म का, **निर्बन्ध भावाः**= दुराग्रही भावना रखते हैं। मैं, **संयोग अयोग विरहात्**= संयोग-वियोग से रहित असंग बोधस्थ होने से, **यथासुखम् असि**= सभी दशाओं में सुखी हूं।

निर्बन्ध के अर्थ दुराग्रह तथा हठ और बंधन-रहित दोनों हैं। यहां निर्बन्ध का अर्थ दुराग्रह एवं हठ है। ग्रंथकार कहते हैं कि देहाभिमानी योगी व्यवस्था देने वाले सकाम-कर्म और निष्काम-कर्म के लक्षण और परिभाषा करते रहें। मैं तो हर क्षण अपना माने गये शरीर को अस्वीकारे रहता हूं। अपने असंग स्वरूपबोध तथा स्थिति में निमग्न हूं। कर्मों की

परिभाषा नहीं करना है। अपितु सामने आये हुए उचित कर्तव्य कर्म करके शांत रहना है। यह सबका अर्थ अपने आप निष्काम कर्म है।

86. अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा।
तिष्ठन्गच्छन्स्वपन्तस्मादहमासे यथासुखम्॥ 5॥

अर्थ-अनर्थौ, न, मे, स्थित्या, गत्या, न, शयनेन्, वा। तिष्ठन्-गच्छन्-स्वपन्-तस्मात्-अहम्-आसे, यथा-सुखम्।

चलने, बैठे रहने तथा शयन करने की दशा में भी मेरा न कोई लाभ है और न हानि है। इसलिए मैं चलते, बैठे और सोने की दशा में सुख से रहता हूं।

भाष्य—चौबीस घंटे में हर मनुष्य को कम-से-कम पांच-छह किलोमीटर तेजी से चलना चाहिए। बैठना तो होता ही है और चौबीस घंटे में पांच-छह घंटे सोना भी आवश्यक है। यह सब स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। बोधवान कहता है मैं सब दशा में प्रसन्न रहता हूं।

87. स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 6॥

स्वपतः, न-अस्ति, मे, हानिः, सिद्धिः-यत्नवतः, न, वा। नाशः-उल्लासौ, विहाय-अस्मात्-अहम्-आसे, यथा-सुखम्।

सोने से मेरी कोई हानि नहीं है और उद्योग धंधे में लगा रहूं तो कोई लाभ नहीं है। इसलिए हानि और लाभ से रहित मैं जिस किसी भी दशा में सुखी हूं।

भाष्य—**स्वपतः**= सोते रहने में, **न अस्ति मे हानिः**= मेरी हानि नहीं है और, **यत्नवतः**= उद्योग धंधे में लगे रहने में, **सिद्धिः न**= लाभ नहीं है, मैं, **नाशः**= हानि और, **उल्लासः**= लाभ से, **विहाय**= परे हूं, **अस्मात्**= इसलिए, **यथा**= जिस किसी दशा में, **अहम् सुखी आसे**= मैं सुखी हूं।

जो सभी स्थितियों में प्रसन्न रहे वही सच्चा विवेकी, ज्ञानी, संत अथवा मनुष्य है। जिसे किसी भोग, प्रतिष्ठा एवं प्राप्ति की कामना नहीं है, वह

कृतार्थ है। वह संसार की जो सेवा कर दे, उसकी अहेतुकी कृपा है। उसकी उपस्थिति मात्र से संपर्क में आने वालों का कल्याण है।

88. सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 7॥

सुखादि-रूप-अनियमम्, भावेषु-आलोक्य, भूरिशः। शुभ-अशुभे, विहाय-अस्मात्-अहम्-आसे, यथा-सुखम्।

सुख-दुख आने में कोई नियम पहले से ज्ञात नहीं रहता है, ऐसा जन्म-जन्मांतरों से अनेक बार देख लिया है! इसलिए मैं शुभ-अशुभ से परे रहकर सभी दशाओं में सुखी हूं।

भाष्य—सुखादि रूप=सुख-दुख के आने में, **अनियमम्**=नियम नहीं है। तात्पर्य है कि पहले से उसका ज्ञान नहीं रहता, यह, **भावेषु**=जन्म-जन्मांतरों से, **भूरिशः**=बारंबार, **आलोक्य**=देखा गया है। **अस्मात्**=इसलिए, मैं शुभ-अशुभ दोनों से परे रहकर हर स्थिति में सुखी हूं।

देह और दुनिया से सुख की आशा करना घोर अज्ञान है। पता नहीं कब शरीर पर क्या स्थिति आये। इसलिए मैं सबकी आशा छोड़कर सब जगह, सब स्थिति में आत्मसंतुष्ट रहकर सुखी हूं।

चौदहवां प्रकरण

89. प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणोहि सः॥ 1॥

प्रकृत्या, शून्य-चित्तः, यः, प्रमादात्-भाव-भावनः। निद्रितः, बोधितः, इव, क्षीण-संसरणः-हि, सः।

जो स्वभाव से शून्य-चित्त है, कभी असावधानी से संसार का भाव और भावना आ जाती है; वह निद्रा के समय में भी जागता हुआ सा है; क्योंकि उसका मनोमय संसार क्षीण है।

भाष्य—यः= जो, **प्रकृत्या**= स्वभाव से, **शून्यचित्तः**= संकल्प-विकल्प से रहित है, कभी, **प्रमादात्**= असावधानी से, **भाव भावनः**= संसार का भाव मन में आकर संकल्प-विकल्प आ जाते हैं। वह, **निद्रितः बोधितः इव**= सोते समय भी जागता हुआ-सा है। **हि**= क्योंकि, **सः**= वह, **क्षीण संसरणः**= क्षीण-वासना वाला है।

उत्कट वैराग्य प्रधान साधक स्वभाव से ही शून्य चित्त होते हैं। उनके मन में कोई हलचल नहीं होती। वे संकल्प-विकल्प से रहित शांत चित्त होते हैं। कभी प्रमाद-वश संसार का भाव क्षण मात्र के लिए आकर संकल्प-विकल्प उठ गये तो वे तुरंत उसे नष्ट कर देते हैं। इसीलिए संतों ने सावधान किया है कि जब तक शरीर है तब तक प्रमाद से बचना है। असावधानी न की जाय। हर समय जागरूक। सावधानी ही साधना है।

वासना एवं राग ही संसरण है, संसार है। जिसका राग नष्ट हो गया, मोह सर्वथा मिट गया, वह सोते समय भी मानो जागता है। वह हर समय प्रशांत, मुक्त एवं कृतार्थ है।

90. क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥ 2॥

क्व, धनानि, क्व, मित्राणि, क्व, मे, विषय-दस्यवः। क्व, शास्त्रम्,

क्व, च, विज्ञानम्, यदा, मे, गलिता, स्पृहा।

यदि मेरी कामनाएं पूर्णतः नष्ट हो गयी हैं, तो अब मेरे लिए कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय-वासनारूपी डाकू, कहां शास्त्र और कहां विज्ञान?

भाष्य—**यदा**= जब, **मे गलिता स्पृहा**= मेरी इच्छाएं गलकर नष्ट हो गयी हैं, तब धन का लोभ तथा आकर्षण कहां रहेगा? मित्र मानकर किसी से राग एवं ममता कहां रहेगी? अब विषय-वासना के डाकू हमारे ऊपर हमला कहां कर सकते हैं? ऐसी अवस्था में शास्त्र का प्रयोजन कहां रहा? और ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता कहां रही?

गंतव्य पर पहुंच जाने पर वाहन छूट जाता है। इच्छा-शून्य हो जाने पर संसार से कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। देह जब तक है उसका निर्वाह करना पड़ता है। ज्ञानी का वह सहज होता रहता है। उसके लिए उसे कोई आंदोलन नहीं रहता।

91. विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्तामुक्तये मम॥ 3॥

विज्ञाते, साक्षि-पुरुषे, परमात्मनि, च-ईश्वरे। नैराश्ये, बन्ध-मोक्षे, च, न, चिन्ता-मुक्तये, मम।

यह देहधारी द्रष्टा जीव ही परम पुरुष, ईश्वर और परमात्मा है। इस तथ्य को जान लेने के बाद बंधन-मोक्ष से निष्काम हो जाने से मुझे मुक्ति की चिंता नहीं रह गयी।

भाष्य—साक्षी-पुरुष जीव है। जो देहधारी है वह मन-इंद्रियों से दृश्यों को देखता है। देहातीत चेतन साक्षी नहीं होता; क्योंकि उसके पास संसार को देखने-जानने के साधन मन-इंद्रियां नहीं होते। इसलिए साक्षी द्रष्टा सदैव देहधारी जीव को ही कहा जाता है।

ग्रंथकार कहते हैं कि साक्षी पुरुष जीव ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसीलिए पुरातन मनीषियों ने कहा "जीवो ब्रह्मैव नऽपरः, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म। अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं, मैं ब्रह्म हूं, वह तू है, यह आत्मा ब्रह्म है, ज्ञान ही ब्रह्म है। कस्तूरी कुंडल बसे, मृग ढूंढे वन माहिं। ऐसे घट घट राम है, दुनिया जानत नाहिं॥"

जो अपने साक्षी स्वरूप चेतन को परम समझ लिया वह अपनी असंगता में स्थित हो गया। अब उसे बंधन है ही नहीं, तो मोक्ष पाने की लालसा का अर्थ नहीं रहा। फिर मुक्ति की चिंता कैसी? जो अपनी परमोच्चता तथा असंगता समझकर अपने में लीन है वह सब समय मुक्त है।

92. अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते॥ 4॥

अन्तर्विकल्प-शून्यस्य, बहिः, स्वच्छन्द-चारिणः। भ्रान्तस्य-एव, दशाः-ताः-ताः-तादृशाः, एव, जानते।

जो भीतर संशय-रहित है और बाहर स्वतंत्र आचरण वाला है; लोगों को उसकी दशा पागल जैसी लगती है। उसकी उच्च दशा वही जान सकता है जो उसके समान स्थिति वाला है।

भाष्य—जो, **अन्तर्विकल्प-शून्यस्य**= मन से संशय-रहित है और, **बहिः स्वच्छन्द चारिणः**= बाहर स्वतंत्र आचरण वाला है, **ताः दशाः**= उसकी स्थिति लोगों को, **भ्रान्तस्य एव**= पागल के समान लगती है। उसकी सच्चाई को तो, **ताः दृशाः एव जानते**= उसकी जैसी स्थिति वाले ही जानते हैं।

अंतः-विकल्प-शून्य—भीतर संशय-रहित। जिसका प्रत्यक्ष-जगत का मोह पूर्णतया मिट गया और परोक्ष की कल्पना मिट गयी। परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, गॉड, अल्लाह, जन्नत, स्वर्ग, मोक्ष बाहर कहीं नहीं हैं। आत्मा ही परमात्मा है। आत्मस्थिति ही मोक्ष, स्वर्ग एवं ब्रह्म की प्राप्ति है। इस प्रकार जिसका आत्मा से भिन्न कुछ पाने का संशय मिट गया, वह अंतः-विकल्प-शून्य हो गया। वह बाहरी आचरण स्वतंत्र होकर करता है। उसे तीर्थ-व्रत, गंगा-स्नान, पूजा-पाठ, नाम-जप, कीर्तन आदि कुछ न करते देखकर संसारी समझते हैं कि यह भ्रांत आदमी है। इसने दुनियादारी छोड़ी और देवी-देवता तथा भगवान को भी छोड़ दिया। इसीलिए मंसूर और सरमद मार डाले गये। उसकी दशा तो वही जानेगा जो उस जैसा होगा। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।

हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध॥ बी० सा० 189 ॥

पंद्रहवां प्रकरण

93. यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥ 1॥

यथा-तथा-उपदेशेन, कृतार्थः, सत्व-बुद्धिमान्। आजीवम्-अपि, जिज्ञासुः, परः-तत्र, विमुह्यति।

सात्विक बुद्धि का साधक जैसे-तैसे ढंग से दिये गये उपदेश से स्वरूपज्ञान पाकर कृतार्थ हो जाता है। दूसरे राजसी-तामसी जिज्ञासु स्वरूपज्ञान के विषय में जीवनपर्यंत मूढ़ ही बने रहते हैं।

भाष्य—सत्व बुद्धिमान्= सात्विक बुद्धि वाले जिज्ञासु, **यथा तथा उपदेशेन=** जैसे-तैसे ढंग से दिये गये उपदेश से स्वरूपज्ञान पाकर, **कृतार्थः=** स्वरूपस्थ होकर तृप्त हो जाते हैं। **परः जिज्ञासुः=** दूसरे राजसी-तामसी जिज्ञासु, **तत्र=** स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति के संबंध में, **आजीवम् अपि=** जीवनपर्यंत भी, **विमुह्यति=** मूढ़ ही बने रहते हैं।

अशुद्ध भाषा और अशुद्ध शैली में दिये गये यथार्थ स्वरूपज्ञान के उपदेश पाकर भी शुद्ध हृदय का जिज्ञासु एवं मुमुक्षु उसे पूर्णतया ग्रहण कर आचरण करने लगता है और वासना त्याग कर जीवन्मुक्त हो जाता है। '**यथा तथा उपदेशेन**' का यही तात्पर्य है। गुरु विद्वान नहीं है। वह प्रांजल भाषा-शैली में नहीं बोल सकता है, परंतु उसका ज्ञान सच्चा है, तो उसे पाकर उत्तम मुमुक्षु अपना कल्याण इसी जीवन में कर लेता है। परंतु जो राजसी-तामसी है, उसे चाहे विद्वान और जीवन्मुक्त पुरुष प्रांजल-शैली में उपदेश दे, तो भी वह मूढ़ ही बना रहता है। जब तक हृदय पूर्ण शुद्ध नहीं होगा, तब तक उपदेश का आचरण नहीं होगा।

94. मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥ 2॥

मोक्षः, विषय-वैरस्यम्, बन्धः, वैषयिकः, रसः। एतावत्-एव, विज्ञानम्, यथा-इच्छसि, तथा, कुरु।

मोक्ष है विषयासक्ति का पूर्ण त्याग, और बंधन है विषयासक्ति में पड़ा रहना। इतना ही विज्ञान है। जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

भाष्य—विषय-वैरस्य= विषयों में रस नहीं है, सुख नहीं है, अपितु दुख है। इसी के पीछे पूरे जीवन की परतंत्रता है, तृष्णा की वृद्धि है, जन्म-मृत्यु का प्रवाह है। इस प्रकार की जब दृढ़ बुद्धि हो जाती है तब साधक मुक्त है। क्योंकि ऐसी बुद्धि के साधक के मन के द्वंद्व शांत हो जाते हैं। उसे कुछ पाने तथा भोगने की कामना नहीं रह जाती।

वैषयिकः रसः= विषयों से जुड़ा, विषयों में आसक्त, विषयों से सुख मिलेगा जिसकी ऐसी बुद्धि है, वह बंधन में है। जब तक यह बुद्धि बनी रहेगी, विषयों में रस मानेगा, सुख मानेगा, तब तक वह न उनसे छूट सकता है, न शांति पा सकता है।

95. वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजड़ालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥ 3॥

वाग्मि-प्राज्ञ-महा-उद्योगम्, जनम्, मूक-जड़-आलसम्। करोति, तत्त्व-बोधः-अयम्-अतः-त्यक्तः, बुभुक्षुभिः।

यह आत्मतत्त्वबोध प्रखर प्रवक्ता, प्रज्ञावान तथा महा उद्योगशील मनुष्यों को मूक, जड़ और आलसी बना देता है। इसलिए भोगों की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञान से अपने को दूर रखते हैं।

भाष्य—अयम् तत्त्वबोधः= यह आत्मतत्त्व का ज्ञान, **वाग्मि=** प्रखर प्रवक्ता, **प्राज्ञ=** प्रखर ज्ञानी तथा, **महाउद्योगम्=** महान परिश्रमी, **जनम्=** मनुष्यों को, **मूक जड़ आलसम् करोति=** मौन, मूढ़ और आलसी कर देता है। **अतः बुभुक्षुभिः=** इसलिए भोगों की इच्छा रखने वाले, **तत् त्यक्तः=** आत्मज्ञान को त्याग देते हैं।

तत्त्व-अंतिमी सत्यता निजस्वरूप का बोध है। निज स्वरूप का ज्ञान तथा स्थिति न होने से हम भ्रम-वश भोगों की तरफ भागते हैं और सदा अतृप्त रहते हैं। जब निज स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब मन, वाणी और

इंद्रियां विश्राम पा जाती हैं। जानने से पांडित्य एवं ज्ञान बढ़ता है; परंतु बोधवान अनजान स्थिति में चला जाता है, कुछ न जानने, कुछ न सोचने की स्थिति में चला जाता है—संकल्प-शून्य-निर्विकल्प समाधि। पांडित्य है उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ना तथा तत्त्वबोध है उत्तरोत्तर दृश्यजगत को भूलते जाना। जब सब भूल गया तब अपने आप शेष है, बक़ा है। ऐसा व्यक्ति बोलने की इच्छा नहीं करता, मौन हो जाता है, मूक हो जाता है। यह अलग बात है कि वह लोक-कल्याण के लिए बोलता है। कुछ जानने और पाने के लिए कर्म किया जाता है। जब कुछ जानने और पाने की इच्छा ही नहीं तो कर्म क्यों करे! इसलिए वह निष्कर्म हो जाता है। परंतु उसका कुछ न करना बहुत करना रहता है। कोई ऐसा संत हम लोगों के बीच हो तो हमें अमोघ प्रेरणा मिलेगी। वैसे संत प्रायः जीवनपर्यंत लोक-कल्याण के लिए गतिशील रहे।

96. न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥ 4॥

न, त्वम्, देहः, न, ते, देहः, भोक्ता, कर्ता, न, वा, भवान्। चित्-रूपः-असि, सदा, साक्षी, निरपेक्षः, सुखम्, चर।

न तुम देह हो, न तुम्हारी देह है, न तुम कर्ता अथवा भोक्ता हो। आप तो चेतन स्वरूप हैं, शाश्वत, द्रष्टा और निष्काम रूप हैं। अतएव सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें।

भाष्य—तुम देह नहीं, देह तुम्हारी नहीं, इसलिए तुम स्वरूपतः कर्ता-भोक्ता नहीं। कर्ता-भोक्ता तो देहोपाधि से बने हो। **भवान्**=आप, **चित् रूपः असि**=चेतन स्वरूप हैं, **सदा**=शाश्वत, **साक्षी**=द्रष्टा ज्ञानस्वरूप तथा, **निरपेक्षः**=कामना शून्य हैं; अतएव, **सुखम् चर**=सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो।

ग्रंथकार बोध-वैराग्य की कील बारंबार ठोकते हैं। वे कहते हैं, तुम क्यों दुखी हो। न तुम देह हो और न देह तुम्हारी है। जब देह ही तुम्हारी नहीं है, तब संसार में तुम्हारा क्या है? जब तू है अकेला तब झमेला कौन काम का। सेवा करो, विनम्र रहो और वासना छोड़कर शांत रहो।

97. रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।

निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥ 5॥

राग-द्वेषौ, मनोधर्मौ, न, मनः-ते, कदाचन। निर्विकल्पः-असि, बोधात्मा, निर्विकारः, सुखम्, चर।

राग-द्वेष मन के विकार हैं, तुम कभी भी मन नहीं हो। तुम तो कल्पना-शून्य संकल्प-विकल्प रहित, ज्ञानस्वरूप तथा निर्मल हो। अतएव सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो।

भाष्य—"राग-द्वेष मन के धर्म हैं। यदि मन में राग-द्वेष चलते हैं, तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि, **कदाचन**=कभी भी, **न मनः ते**=मन तुम्हारा नहीं है।" यह राय ठीक नहीं है। मन हमारे स्वरूप में भले नहीं है, परंतु देहोपाधि में वह हमसे जुड़ा है। यदि मन में राग-द्वेष हैं, तो उनके हम उत्तरदायी भी हैं। मन कोई स्वतंत्र जंतु नहीं है, अपितु हमारी आभ्यासिक वृत्ति है। यदि मन में राग-द्वेष हैं तो हमारी भोग तथा प्रतिष्ठा की कामना है, अहंकार है। हमें राग-द्वेष को पूर्णतया मिटाना है। बिना राग-द्वेष पूर्णतः मिटे शाश्वत शांति नहीं मिलेगी। जैसे हम निर्विकार, निर्विकल्प तथा ज्ञान स्वरूप हैं, वैसी रहनी में रहकर ही अगाध अमृत में जी सकते हैं। तभी 'सुखम् चर' चरितार्थ होगा।

98. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥ 6॥

सर्व-भूतेषु, च-आत्मानम्, सर्व-भूतानि, च-आत्मनि। विज्ञाय, निरहंकारः, निर्ममः-त्वम्, सुखी, भव।

सभी प्राणियों में आत्मा को और सभी प्राणियों को आत्मा में समझकर अहंकार-शून्य तथा ममता-रहित होकर तुम सुखी हो जाओ।

भाष्य—समता और शील के लिए यह एक उत्तम धारणा है। सभी आत्मा सजाति हैं, सब मेरे समान हैं। इसलिए मानो वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं। ऐसा समझकर किसी को मन, वाणी तथा शरीर से कभी दुख न दिया जाय, अपितु जहां तक बन सके दूसरे की सेवा की जाय।

पूर्ण सुखी होने के लिए हमें अहंकार और ममता को पूरा छोड़ देना चाहिए। हमें हमारे अहंकार-ममकार जलाते हैं। इसलिए ग्रंथकार कहते

हैं—**निरहंकारः निर्ममः त्वम् सुखी भव**–तुम अहंकार–शून्य और ममता छोड़कर सुखी हो जाओ।

99. विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥ 7॥

विश्वम्, स्फुरति, यत्र–इदम्, तरंगा, इव, सागरे। तत्–त्वम्–एव, न, सन्देहः–चिन्मूर्ते, विज्वरः, भव।

जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं, वैसे जहां इस संसार के स्मरण उठते हैं, वह तुम चेतनस्वरूप ही हो, इसमें संदेह नहीं है। अतएव संसार का संबंध स्मरण मात्र जानकर संताप–रहित हो जाओ।

भाष्य—**तरंगा इव सागरे**= समुद्र में उठने वाली लहर के समान, **यत्र**= जहां, **इदम् विश्वम् स्फुरति**= इस संसार का स्मरण उठता है, **तत् त्वम् चिन्मूर्ते एव**= वह तुम चेतन स्वरूप ही हो, **न सन्देहः**= इसमें संदेह नहीं है। अतएव, **विज्वरः भव**= संताप से रहित हो जाओ।

जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं, वैसे हे चेतन स्वरूप आत्मा! तुम्हारे मन में संसार का स्मरण उठता है। संसार तुम्हारे में नहीं है। उसका तुम्हारा संबंध स्मरण मात्र है। इसलिए अनात्म तथा अनित्य संसार का मोह छोड़कर मन की जलन से रहित हो जाओ।

संसार में अपने को जोड़कर उसकी अहंता–ममता में मन जलता है। अपनी शुद्ध रूपता तथा असंगता को समझो और असंगभाव में स्थित होकर सुखी हो जाओ।

100. श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥ 8॥

श्रद्धस्व, तात्, श्रद्धस्व, न–अत्र, मोहम्, कुरुष्व, भोः। ज्ञानस्वरूपः, भगवान्–आत्मा, त्वम्, प्रकृतेः, परः।

हे प्रिय आदरणीय! इस अनात्म संसार में मोह न करो। मेरी बात में श्रद्धा करो, श्रद्धा करो। तुम जड़–प्रकृति से परे ज्ञान स्वरूप चेतन आत्मा हो और तुम्हीं भगवान हो।

भाष्य—संस्कृत भाषा में भोः किसी के आदर में कहा जाता है, अतएव यह आदर–सूचक है और तात प्रिय को कहते हैं। गुरु शिष्य को

प्यार और आदर देते हुए कहते हैं कि हे प्रिय आदरणीय! **न अत्र मोहम् कुरुष्व**=इस अनात्म एवं सदा के लिए छूट जाने वाले संसार में मोह न करो और मेरी बात पर श्रद्धा करो। तुम ज्ञान स्वरूप आत्मा हो, भगवान हो, परमात्मा हो और जड़ प्रकृति से सर्वथा परे हो। तुम अपने को तुच्छ न समझो, अपितु सर्वोच्च समझो।

श्रद्धा शब्द पर यास्क मुनि ने अपने निरुक्त में बताया है कि **श्रत्** और **धा**, दो पदों को मिलाकर **श्रद्धा** शब्द बनता है। श्रत् का अर्थ है सत्य और धा का अर्थ है धारण करना। अतएव मन की वह वृत्ति जो सत्य को धारण करे श्रद्धा है। यहां ग्रंथकार श्रद्धा का दो बार प्रयोग करके जोर देते हैं कि अपने में श्रद्धा करो। तुम तुच्छ नहीं, महान हो, प्रकृति-पार परमात्मा हो, अपने आप में स्थित हो जाओ।

101. गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥ 9॥

गुणैः संवेष्टितः, देहः-तिष्ठति-आयाति, याति, च। आत्मा, न, गन्ता, न-अगन्ता, किम्-एनम्-अनुशोचसि।

प्राकृतिक गुण सत, रज, तम तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से शरीर लिपटा है—ओतप्रोत है। अतएव शरीर जड़-जगत में निर्मित होता, स्थित होता और नष्ट होता है। आत्मा न जन्मता है और न मरता है, फिर तू क्यों इसके संबंध में चिन्ता करता है?

भाष्य—गुणैः=प्राकृतिक गुणों सत, रज, तम तथा शब्दादि पांचों विषयों से, **देहः संवेष्टितः**=देह लिपटी है। अतएव देह ही, **आयाति**=आती है, जन्मती है, **तिष्ठति**=संसार में रहती है और **याति**=जाती है—नष्ट होती है। **आत्मा न अगन्ता न गन्ता**=आत्मा न आता है और न जाता है—न जन्मता है और न मरता है। फिर, **किम् एनम् सोचसि**=क्यों इसके विषय में चिंता करते हो?

तुम शुद्ध चेतन अमर आत्मा हो। तुम्हारी उत्पत्ति और विनाश नहीं है। देह ही बनती-मिटती है। अतएव देह की परिवर्तनशीलता पर चिंता मत करो। अपितु देह की आसक्ति और विषयों की तृष्णा त्याग कर आत्मशांति लो जिससे पुनः देह में न आना पड़े।

102. देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥ 10॥

देहः-तिष्ठतु, कल्पान्तम्, गच्छतु-अद्य-एव, वा, पुनः। क्व, वृद्धिः, क्व, च, वा, हानिः-तव, चिन्मात्र-रूपिणः।

शरीर कल्पांत तक रहे अथवा अभी ही नष्ट हो जाय। इससे तुम्हारी क्या बढ़ती होगी अथवा क्या हानि होगी? तुम तो चेतन स्वरूप मात्र हो।

भाष्य—चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक कल्प माना है। ग्रंथकार कहते हैं कि तुम्हारा शरीर एक कल्प तक स्थिर रहे तो तुम्हारी क्या बढ़ती होगी, क्या लाभ होगा? और आज ही शरीर छूट जाय तो तुम्हारी क्या हानि होगी? क्योंकि तुम केवल चेतन स्वरूप हो जिसमें संसार है ही नहीं। अतएव देहाभिमान की चादर फाड़ फेंको। तुम निर्विशेष, असंग, शुद्ध चेतन हो। तुम्हारे में संसार का भास भी नहीं है।

103. भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रोनकिंचिदिव शाम्यति॥ 17॥

भ्रान्तिमात्रम्-इदम्, विश्वम्, न, किंचित्-इति, निश्चयी। निर्वासनः, स्फूर्तिमात्रः-न-किंचित्-इव, शाम्यति।

यह संसार भ्रांति मात्र है। यह थोड़ा भी नहीं है। ऐसा जिसे निश्चय हुआ वह इसकी वासना से मुक्त हो जाता है। उसके लिए संसार स्मरण मात्र तथा नहीं के समान रहता है। इसलिए वह शांत हो जाता है।

भाष्य—**इदम् विश्वम् भ्रांतिमात्रम्**= यह संसार भ्रांति मात्र है, **न किंचित इति निश्चयी**= यह थोड़ा भी नहीं है, ऐसा जिसे निश्चय है, वह, **निर्वासनः**= संसार की वासना से रहित हो जाता है। उसके लिए संसार, **स्फूर्तिमात्रः** = स्मरण मात्र है। **किंचित् इव न**= थोड़े की तरह भी नहीं है। अतएव वह, **शाम्यति**= शांत हो जाता है।

याद रखें, संसार अपनी जगह पर प्रवहमान नित्य है। वह हमारे में—आत्मा में नहीं है, इसलिए उसकी वासना छोड़कर हमें शांत होना चाहिए।

104. मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।

उपशाम्यसुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्द विग्रहे॥ 19॥

मा, संकल्प-विकल्पाभ्याम्, चित्तम्, क्षोभय, चिन्मय। उपशाम्य-सुखम्, तिष्ठ, स्वात्मनि-आनन्द, विग्रहे।

हे चेतन! संकल्प-विकल्प में चित्त को क्षुब्ध मत करो। अपितु उसे शांत करके अपने आनंद स्वरूप आत्मा में सुखपूर्वक स्थित हो जाओ।

भाष्य—ग्रंथकार करुणाविगलित हो हमें उपदेश देते हैं—**चिन्मय**= हे चेतन! **संकल्प-विकल्पाभ्याम्**= संकल्प-विकल्पों में, **चित्तम् मा क्षोभय**= चित्त को मत क्षोभित करो। अपितु उसे, **उपशाम्य**= शांत करके, **स्वात्मनि आनंद विग्रहे**= अपने आनंदस्वरूप आत्मा में, **सुखम् तिष्ठ**= सुखपूर्वक स्थित हो जाओ।

जीवनपर्यंत संसार में अनुकूल-प्रतिकूल मिलते रहेंगे। इसकी परवाह मत करो। चित्त को उलझाओ मत, अपितु उसे शांत करके अपने आप में लीन हो जाओ जहां परमानंद, परम सुख और अनंत शांति है।

105. त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्हृदि धारय।
आत्मात्वंमुक्तएवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥ 20॥

त्यज-एव, ध्यानम्, सर्वत्र, मा, किंचित्-हृदि, धारय। आत्मा-त्वम्-मुक्तः-एव-असि, किम्, विमृश्य, करिष्यसि।

सब तरफ से अपना ध्यान पूर्णतया हटा लो, मन में कोई संदेह धारण मत करो। तुम आत्मा होने से सदा मुक्त ही हो। क्यों घबराते हो?

भाष्य—मन में कोई संशय न रखो। सब तरफ से मन समेटकर यह सोचो कि तुम शुद्ध चेतन हो, मुक्त स्वरूप हो। तुम क्यों अनर्गल सोचते हो? क्यों उद्वेगित होते हो। **विमृश्य**= विचारने योग्य, सोचने योग्य, चिंता करने योग्य क्यों मानते हो? मन को खाली करो, तब शांति पाओगे।

सोलहवां प्रकरण

106. आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ 1॥

आचक्ष्व, शृणु, वा, तात, नाना-शास्त्राणि-अनेकशः। तथापि, न, तव, स्वास्थ्यम्, सर्व-विस्मरणात्-ऋते।

हे प्रिय! नाना विचार के शास्त्रों पर चाहे अनेक बार प्रवचन दो और सुनो; परंतु सब कुछ भूले बिना तुम्हें शांति नहीं मिलेगी।

भाष्य—तात= हे प्रिय शिष्य! **नाना शास्त्राणि अनेकशः**= नाना शास्त्र हैं जो अनेक विचार देते हैं, उन पर, **आचक्ष्व**= प्रवचन दो, **वा शृणु**= अथवा सुनो, **तथापि**= तो भी, **सर्व विस्मरणात् ऋते**= सब कुछ भूले बिना, **तव स्वास्थ्यम् न**= तुम्हें शांति नहीं मिलेगी।

स्व-स्थ इन दो पदों से स्वस्थ शब्द बनता है। इसका अर्थ है स्व में स्थ, अपने में स्थिति। जो मन के उद्वेग से रहित अपने आप में स्थित है वह स्वस्थ है। स्वस्थ व्यक्तिवाचक संज्ञा है और स्वास्थ्य भाववाचक संज्ञा है। स्वास्थ्य का अर्थ है अपने आप में रहने की दशा। सीधा अर्थ है शांति। सारे संकल्प-विकल्प छोड़कर निर्विकल्प हुए बिना शांति नहीं मिलेगी। इसलिए अध्ययन-प्रवचन के साथ-साथ समाधि-अभ्यास भी करना चाहिए और निर्विकल्प समाधि में पहुंचना चाहिए। साधक इस ऊंचाई को पहले समझे कि उसका आत्मा असंग है। उसमें जगत-प्रपंच नहीं है। अतएव जगत-प्रपंच को चित्त से उतारकर ही स्थिति हो सकती है।

107. भोगं कर्म समाधिं वा कुरुविज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ 2॥

भोगं, कर्म, समाधिम्, वा, कुरु-विज्ञ, तथापि, ते। चित्तम्, निरस्त-

सर्व-आशम्-अत्यर्थम्, रोचयिष्यति।

हे बुद्धिमान! चाहे तू विषयों का भोग कर, चाहे कर्म कर और चाहे समाधि लगा, परंतु जब तू सारी आशाओं तथा कामनाओं का पूर्णतया त्याग कर देगा तब तेरा चित्त अत्यंत प्रसन्न होगा।

भाष्य—विषय-भोग शरीर या मन को क्षीणकर जलाने वाला है। इसमें दुख-ही-दुख है। कर्म आवश्यक हैं, परंतु वे सही और संतुलित हों। समाधि लगाना अच्छा है, परंतु उसकी अंतिम कसौटी है, **निरस्त सर्व आशम्**= सारी आशाएं तथा कामनाएं नष्ट हो जायें। तब, **चित्तम् अत्यर्थम् रोचयिष्यति**= चित्त अत्यंत रुचिकर लाभ पायेगा—परम शांति।

108. आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥ 3॥

आयासात्-सकलः, दुःखी, न-एनम्, जानाति, कश्चन। अनेन-एव-उपदेशेन, धन्यः, प्राप्नोति, निर्वृतिम्।

भोगों को पाने के प्रयास से सब जीव दुखी हैं, परंतु उनमें से कोई इस तथ्य को नहीं समझता। इस उपदेश से ही भाग्यवान मनुष्य शांति प्राप्त करते हैं।

भाष्य—भोगों को पाने की आशा में पड़कर, **आयासात्**= प्रयत्न करने से, **सकलः दुखी**= सब मनुष्य दुखी हैं, परंतु **कश्चन एनम् न जानाति**= कोई इस तथ्य को नहीं जानता। **अनेन उपदेशेन एव**= इस उपदेश से ही, **धन्यः**= भाग्यवान मनुष्य, **निर्वृतिम् प्राप्नोति**= शांति प्राप्त करते हैं।

भोग और प्रतिष्ठा पाने की लालसा में मनुष्य सरतोड़ परिश्रम करता है। कुछ पाता भी है, परंतु सदैव उसे अपूर्णता बनी रहती है और अंततः तो सब छूटने वाली चीज, अपना माना हुआ शरीर ही गलकर असमर्थ हो जाता है और वह निराश होकर संसार से चला जाता है।

जो सौभाग्यशाली मनुष्य उपर्युक्त तथ्य को जानता है, वह भोग और प्रतिष्ठा के पीछे नहीं दौड़ता। वह भोगों से हटकर अंतर्मुख हो जाता है और शाश्वत शांति पाता है।

109. व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नानस्य कस्यचित्॥ 4॥

व्यापारे, खिद्यते, यस्तु, निमेष-उन्मेष-योः-अपि। तस्य-आलस्य-धुरीणस्य, सुखम्, न-अनस्य, कस्यचित्।

पलक खोलने और मूंदने जैसे आंखों के सहज कर्म से भी जो ज्ञानी दुख मानता है, आलसियों में उस धुरंधर आलसी को ही सुख मिलता है, अन्य किसी को नहीं।

भाष्य—आंखों की पलकें स्वाभाविक खुलती-मुंदती रहती हैं, ऐसे सहज कर्म को भी जो दुख मानता है वह आलसियों में महाआलसी, धुरंधर आलसी होगा ही। ऐसा पूर्णतः निष्क्रिय व्यक्ति ही सुखी होता है। **न अनस्य कस्यचित्=** अन्य कोई भी सुखी नहीं होगा।

यहां कथन में घोर अतिशयोक्ति है। परंतु इससे भड़कें मत। यह कथन सापेक्ष है। यह समाधि की दशा है जहां सोचना भी पूर्णतया बंद हो जाता है। विश्व के सभी पहुंचे हुए संतों का यह अनुभव है। चीन के प्राचीन दार्शनिक संत लाओत्ज़े भी इसे कहते हैं। परंतु समाधि में पूर्ण निष्क्रिय साधक भी दूसरे समय शरीर निर्वाह के काम करता है तथा अन्य अपने कर्तव्य कर्म करता है। अतएव समय-समय पर निष्क्रिय हो जाना चाहिए, और शेष समय कर्तव्य कर्म डट कर करना चाहिए। शरीर गतिशील नहीं रहेगा तो वह रोगों का घर हो जायेगा। इसके साथ सेवा कर्तव्य है। दूसरों द्वारा हमारी सेवा होती है, तो हमें भी दूसरे की सेवा करना चाहिए।

110. इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥ 5॥

इदम्, कृतम्-इदम्, न-इति, द्वन्द्वैः-मुक्तम्, यदा, मनः। धर्म-अर्थ-काम-मोक्षेषु, निरपेक्षम्, तदा, भवेत्।

यह किया और यह नहीं कर पाया, इस द्वंद्वात्मक भावना से साधक जब मुक्त हो जाता है तब वह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों से निष्काम हो जाता है।

भाष्य—जीवन बीत जाता है और मनुष्य का काम समाप्त नहीं होता। जो साधक कृतार्थ है, जो करना था वह कर लिया जब ऐसी संतुष्टि हो जाती है, तब वह मुक्त ही है। उसके अर्थ, धर्म और काम पूर्ण ही हैं, और द्वंद्वों से मुक्त होने से वह पूर्ण मुक्त है। इसलिए चारों पुरुषार्थों से वह निष्काम हो जाता है। जो मुक्त है वह मुक्ति की कामना क्यों करेगा?

कुछ करने योग्य और कुछ न करने योग्य जीवन में होता है। इसलिए जीवनपर्यंत विधि-निषेध की आवश्यकता है। यदि हिंसा और विषयासक्ति कर्म जीवन से निषिद्ध न हों तो ज्ञान का अर्थ क्या रहा!

111. प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः॥ 8॥

प्रवृत्तौ, जायते, रागः, निवृत्तौ, द्वेष, एव, हि। निर्द्वन्द्वो, बालवत्-धीमान्-एवम्-एव, व्यवस्थितः।

प्रवृत्ति में राग उत्पन्न होता है और तामसपूर्वक निवृत्त होने से द्वेष उत्पन्न होता है। विवेकवान बालक की भांति सरल चित्त के होते हैं, इसलिए वे प्रवृत्ति-निवृत्ति के अभिमानपूर्ण द्वंद्व से ऊपर रहकर स्वाभाविक ढंग से ही यथासमय एवं यथास्थान व्यवस्थित हो जाते हैं।

भाष्य—राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों बंधन हैं। विवेकवान उच्चतम साधक का लक्षण है बालक के समान सरल चित्त का होना। न रागपूर्वक प्रवृत्ति और न द्वेषपूर्वक निवृत्ति। वह सब समय सब जगह सबसे मिल-जुलकर सेवा कर लेता है और शांत रहता है।

112. हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ 11॥

हरः, यदि-उपदेष्टा, ते, हरिः, कमलजः-अपि, वा। तथापि, न, तव, स्वास्थ्यम्, सर्व-विस्मरणात्-ऋते।

यदि तुम्हें शिवजी, विष्णुजी और कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी उपदेश करें, तो भी सबको भूले बिना तुम्हें शांति नहीं मिलेगी।

भाष्य—ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी तुम्हारे उपदेष्टा गुरु हों, तो भी जब

तक तुम चित्त से संसार को उतार नहीं दोगे तब तक तुम्हें शांति नहीं मिलेगी। गहरी शांति ही स्वास्थ्य है। समय-समय से निर्विकल्प समाधि में जाकर साधक परमशांति का अनुभव करे। शेष समय में भी वह समझे कि यह मन-इंद्रियों से प्रतीतमान जगत मेरे में नहीं है। सुषुप्ति में यह बिलकुल भूल जाता है। शरीर छूट जाने पर संसार सदा के लिए हमसे ओझल हो जायेगा। निर्विकल्प समाधि में स्थित होना चाहिए। अतएव ग्रंथकार का यह परम सत्य वाक्य है—

सर्व विस्मरणात् ऋते=सबको भूले बिना, **न तव स्वास्थ्यम्**=तुम्हें शांति नहीं मिलेगी।

सत्तरहवां प्रकरण

113. तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यास फलं तथा।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकीरमतेतुयः॥ 1॥

तेन, ज्ञान-फलम्, प्राप्तम्, योगाभ्यास, फलम्, तथा। तृप्तः, स्वच्छ-इंद्रियः, नित्यम्-एकाकी-रमते-तु-यः।

जो आत्म-तृप्त है, मन-इंद्रियों को पवित्र रहनी में रखकर और विषयों से विरत होकर अपने असंग आत्मा में निरंतर रमता है, उसी ने स्वरूपज्ञान और योगाभ्यास का फल पाया।

भाष्य—सद्गुरु के उपदेश से, संतों के सत्संग से यह जाना कि मेरा स्वरूप मन, इंद्रियों तथा जड़-प्रकृति से सर्वथा भिन्न है, और योगाभ्यास भी करते हैं, ध्यान करते हैं, तो इसका फल है **तृप्तः स्वच्छ इंद्रियः नित्यम् एकाकी रमते।** सब समय सब तरफ से तृप्त रहना। कहीं किसी से कोई कामना न रखना, भीतर हर समय संतुष्ट रहना; स्वच्छ मन-इंद्रिय रहना और निरंतर अपने असंग स्वरूप आत्मा में विश्राम पाना।

114. न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकी पल्लव प्रीतमिवेभंनिम्बपल्लवाः॥ 3॥

न, जातु, विषयाः, के-अपि, स्वारामम्, हर्षयन्ति-अमी। सल्लकी, पल्लव, प्रीतम्-इव-इभम्-निम्ब-पल्लवाः।

जैसे हाथी को चीड़ के पत्ते के समान प्रिय नीम के पत्ते नहीं होते, वैसे आत्माराम में रमने वाले ज्ञानी संत को विषय कभी भी आनंद नहीं दे सकते।

भाष्य—इभम्= हाथी को, **सल्लकी पल्लव इव निम्ब पल्लवः प्रीतम=** चीड़ के पत्ते के समान नीम के पत्ते प्रिय नहीं होते, वैसे

स्वरामम्= आत्माराम में रमने वाले ज्ञानी संत को, **के अपि विषयाः**= कोई भी विषय, **हर्षयन्ति**= हर्षित, **जातु**= कभी भी, **न**= नहीं कर सकते।

सदाबहार चीड़ के पत्ते हाथी प्रेम से खाते हैं। नीम के पत्ते उन्हें प्रिय नहीं होते। वैसे ज्ञानी आत्माराम का अमृत पीकर निरंतर आनंदित रहता है। वह दुखदायी विषय-भोगों की तरफ ताकता भी नहीं।

115. यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः॥ 4॥

यः-तु, भोगेषु, भुक्तेषु, न, भवति-अधिवासिता। अ-भुक्तेषु, निराकांक्षी, तादृशः, भव-दुर्लभः।

जिसे भोगे हुए विषयों में आसक्ति नहीं है और न-भोगे हुए विषयों की आकांक्षा नहीं है, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है।

भाष्य—अज्ञान दशा में जो भोग भोग लिए गये हैं, उनकी आज ज्ञान दशा में, **अधिवासिता न भवति**= आसक्ति नहीं है, भोगे हुए विषयों में मन बसा हुआ, चिपका हुआ नहीं है, अपितु उनसे सर्वथा मुक्त है; और अभुक्त विषयों की, न भोगे हुए विषयों की इच्छा नहीं है, वह मनुष्य विरल है। यही तो मोक्ष है। पहले का राग सर्वथा समाप्त है और वर्तमान में कहीं राग बनता नहीं है, यही परम शांति की, मोक्ष की दशा है।

116. बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः॥ 5॥

बुभुक्षुः-इह, संसारे, मुमुक्षुः-अपि, दृश्यते। भोग-मोक्ष-निराकांक्षी, विरलः, हि, महाशयः।

इस संसार में विषय-भोग की इच्छा वाले भरे हैं और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वाले भी कहीं-कहीं दिख जाते हैं; परंतु भोग और मोक्ष दोनों की आकांक्षाओं से रहित विरला ही महाशय होता है।

भाष्य—भोगी मनुष्य संसार में भरे हैं। कोई शुद्ध संस्कार वाला मनुष्य देखता है कि भोगों से मन तृप्त नहीं हो रहा है ''**न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति**'' (मनु 2/94)। अर्थात भोगों से कामनाएं कभी शांत

नहीं होती हैं। अतएव वह पहले का बुभुक्षु—भोगी जीव मुमुक्षु हो जाता है, मोक्ष की इच्छा वाला हो जाता है। इस प्रकार बुभुक्षु—भोगों की इच्छा वाले तो संसार में भरे हैं, परंतु मुमुक्षु-मोक्ष की इच्छा करने वाले भी कहीं-कहीं दिख जाते हैं।

जिसने मोक्ष का काम पूरा कर लिया, सारी वासनाएं-तृष्णाएं त्यागकर जो निरंतर आत्मलीन है, वह मुक्त है। वह बुभुक्षु तो है ही नहीं, किंतु वह अब मुमुक्षु भी नहीं है, मोक्ष की इच्छा वाला नहीं है, क्योंकि वह निरंतर मुक्त ही है। गंतव्य पर पहुंच जाने पर पहुंचने की इच्छा समाप्त हो जाती है। दिल्ली पहुंचने की इच्छा वाला जब दिल्ली पहुंच जाता है तब दिल्ली पहुंचने की इच्छा समाप्त हो जाती है। मुक्त पुरुष मुक्ति की इच्छा क्यों करे! ऐसा पुरुष विरला है जो मोक्ष प्राप्त है। उसे ग्रंथकार ने महाशय कहा है। महा=महान, आशय=विश्रामस्थल—जो महान विश्राम स्थल-आत्मस्थिति में पहुंच गया वह महाशय है। वह विरल है।

बुभुक्षु को मुमुक्षु होना चाहिए और मुमुक्षु को महाशय-परम विश्राम प्राप्त।

117. कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥ 8॥

कृतार्थः-अनेन, ज्ञानेन-इति-एवम्, गलित-धीः, कृती। पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-आस्ते, यथा-सुखम्।

इस आत्मज्ञान से देहात्म बुद्धि नष्ट होकर जो कृतार्थ हो गया है, वह देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए तथा खाते हुए सब स्थिति में आत्मसंतुष्ट रहता है।

भाष्य—अनेन ज्ञानेन=इस ज्ञान से-आत्मज्ञान से जिसकी देहबुद्धि गल गयी है, जो सदैव आत्माराम है, कृतकार्य है, वह देह व्यवहार एवं शुद्ध जीवन-निर्वाह में खाते, पीते, देखते, चलते, फिरते, बैठे, लेटे हर स्थिति में आत्मसंतुष्ट एवं शांत रहता है।

118. शून्या दृष्टिर्वृथाचेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।

न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसार सागरे॥ 9॥

शून्या, दृष्टिः–वृथा–चेष्टा, विकलानि–इंद्रियाणि च। न, स्पृहा, न, विरक्तिः–वा, क्षीण–संसार–सागरे।

जिस ज्ञानी का संसार–सागर नष्ट हो जाता है, उस की दृष्टि शून्य, चेष्टा व्यर्थ और इंद्रियां पंगु हो जाती हैं। न उसके मन में किसी विषय की इच्छा रहती है और न विरक्ति का आभास रहता है।

भाष्य—**क्षीण संसार सागरे**= जिसका संसार–सागर क्षीण हो जाता है, तृष्णा शांत हो जाती है, उसकी **दृष्टि शून्या**= दृष्टि शून्य हो जाती है। वह आत्मा के अलावा अपना कुछ नहीं देखता। उसे स्वयं के बाद शून्य है। उसकी, **वृथा चेष्टा**= चेष्टाएं व्यर्थ हो जाती हैं। वह क्या पाने की चेष्टा करे? आत्मा के अलावा आत्मा के पास कुछ रहने वाला नहीं है। उसकी इंद्रियां, **विकलानि**= पंगु, अपाहिज हो जाती हैं। वे भोगों में लगती ही नहीं हैं। उसे, **न स्पृहा**= संसार के किसी भोग तथा अधिकार की इच्छा नहीं होती। **न विरक्तिः**= न उसे यह अनुभव होता है कि मैं वैराग्यवान हूं। वैराग्य तो उसके जीवन का स्वभाव हो गया। उसका अलग से अनुभव एवं अहंकार क्या!

119. न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा कापि वर्तते मुक्तचेतसः॥ 10॥

न, जागर्ति, न, निद्राति, न–उन्मीलति, न, मीलति। अहो, पर–दशा, का–अपि, वर्तते, मुक्त–चेतसः।

मुक्त–चित्त ज्ञानी न जागता है, न सोता है, न पलकें खोलता है, न उन्हें मूंदता है। अहो, इस परम उच्च दशा में कोई विरला वर्तमान करता है।

भाष्य—जागना–सोना, आंखें खोलना और मूंदना स्वरूपस्थ संत के भी होते हैं। खास बात यह है कि उसकी संसारातीत आत्मदशा उच्चतम होती है। वह शरीराध्यास से हर क्षण ऊपर रहता है।

120. सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥ 1॥

सर्वत्र, दृश्यते, स्वस्थः, सर्वत्र, विमल-आशयः। समस्त-वासना-मुक्तः, मुक्तः, सर्वत्र, राजते।

जीवन्मुक्त संत सर्वत्र शांत दिखता है, सर्वत्र निर्मल अंतःकरण रहता है। वह सभी वासनाओं से मुक्त होता है। वह मुक्त होकर सर्वत्र शोभा पाता है।

भाष्य—जीवन्मुक्त संत सर्वत्र स्वस्थ, आत्मस्थ एवं प्रशांत दिखता है। राग-द्वेष से रहित होने से वह सर्वत्र निर्मल मन का रहता है। वह इस सदा के लिए छूटने वाले संसार की सारी वासनाएं छोड़कर विचरता है। वह अपनी मुक्तदशा में सर्वत्र शोभा पाता है।

121. पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गृह्णन्वदन्व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥ 12॥

पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गृह्णन्-वदन्-व्रजन्। ईहता-अनीहितैः-मुक्तः, मुक्तः, एव, महाशयः।

शांतात्मा ज्ञानी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, ग्रहण करते, बोलते और चलते हुए इच्छा-अनिच्छा से मुक्त होकर सब समय मुक्त ही रहता है।

भाष्य—मुक्त पुरुष ईहता-अनीहता=इच्छा-अनिच्छा से सदा मुक्त रहता है। उसकी सारी इच्छाएं शांत होने से इच्छाओं से मुक्त है और अनिच्छा के अहंकार से मुक्त होने से वह अनिच्छा से भी मुक्त है। उसकी अहंकार-शून्य दशा रहती है।

122. न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥ 13॥

न, निंदति, न, च, स्तौति, न, हृष्यति, न, कुप्यति। न, ददाति, न, गृह्णाति, मुक्तः, सर्वत्र, नीरसः।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष न किसी की निंदा करता है, न किसी की प्रशंसा करता है, न हर्षित होता है, न क्रोधित होता है, न देता है और न लेता है। सर्वत्र अनासक्त एवं मुक्त होता है।

भाष्य—अनुकूलता-प्रतिकूलता में सबको प्रसन्नता और खिन्नता होती है, परंतु जीवन्मुक्त संत अनुकूलता-प्रतिकूलता में इस तरह प्रसन्न और खिन्न नहीं होता जिससे उसका मन विशेष उल्लसित और दुखी हो। देना-लेना सहज शरीर का व्यवहार है, परंतु ज्ञानी को उसमें आग्रह नहीं होता। वह सर्वत्र नीरस रहता है, लगाव-रहित, आसक्ति-रहित; इसलिए वह सब समय मुक्त है।

123. सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥ 14॥

स-अनुरागाम्, स्त्रियम्, दृष्ट्वा, मृत्युम्, वा, सम-उपस्थितम्। अ-विह्वल-मनाः, स्वस्थः, मुक्त, एव, महाशयः।

प्रेम करने वाली स्त्री को देखकर अथवा मृत्यु को सामने उपस्थित समझकर जो स्थिर मन वाला एवं आत्मस्थ है वह महाशय मुक्त ही है।

भाष्य—एक सुंदर युवती आकर अपना हाव-भाव दिखाने लगी अथवा सामने मृत्यु उपस्थित हो गयी, इन-जैसी स्थितियों में जो चलायमान नहीं होता वह अपने आप में लीन संत मुक्त है।

124. सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥ 15॥

सुखे, दुःखे, नरे, नार्याम्, सम्पत्सु, च, विपत्सु, च। विशेषः न-एव, धीरस्य, सर्वत्र, सम-दर्शिनः।

जीवन्मुक्त धीरवान संत सुख-दुख, स्त्री-पुरुष, संपत्ति और विपत्ति में हर्षित-शोकित नहीं होते, अपितु सर्वत्र समदर्शी होते हैं।

भाष्य—जीवन्मुक्त संत को अनुकूलता मिलती है, प्रतिकूलता मिलती है, संपत्ति मिलती है, संकट मिलता है, प्रेम और वैर करने वाले नर-नारी मिलते हैं, परंतु वे धीरवान पुरुष हर्ष-शोक के आंदोलन में नहीं पड़ते। वे सब समय और सभी परिस्थितियों में समता को प्राप्त समदर्शी होते हैं। वे समझते हैं कि कुछ रहने वाला नहीं है। सब कुछ सब समय भाग रहा है। सारा जड़-दृश्य स्वप्नवत बरत रहा है। मैं अपने में अचल हूं।

125. न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे॥ 16॥

न, हिंसा, न-एव, कारुण्यम्, न-औद्धत्यम्, न, च, दीनता। न-आश्चर्यम्, न-एव, च, क्षोभः, क्षीण-संसरणे, नरे।

जिस मनुष्य का संसरण—मन का मोह मिट गया है वह जीवन्मुक्त पुरुष हिंसा, करुणा, उद्दंडता, दीनता, आश्चर्य और क्षोभ से परे होता है।

भाष्य—नर का असली अर्थ है जो न रमण करे 'न-र' विषयों में न रमण करे। **क्षीण संसरणे नरे** जिस नर का संसार क्षीण हो गया है। संसार है मोह, वासनाएं, आसक्ति। इसके नष्ट हो जाने पर मनुष्य शाश्वत शांति में जीता है। वही जीवन्मुक्त है। उसके मन में किसी को दुख देने की भावना नहीं होती और वह करुणा के चक्कर में पड़कर कहीं ममता नहीं बनाता। श्री विशाल साहेब ने भवयान के वैराग्यवित्त प्रकरण में कहा है— "तामस दया मोह करि ममता, परिहो जाल न कतहुँ बचावा।" वैराग्यवान सबसे निस्पृह रहते हैं। न वे उद्दंड होते हैं न दीन। वे किसी घटना को देख-सुनकर आश्चर्य नहीं करते और न उनके मन में किसी बात को लेकर उद्वेग उत्पन्न होता है। वे सदैव प्रशांत होते हैं।

126. न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥ 17॥

न, मुक्तः, विषय-द्वेष्टा, न, वा, विषय-लोलुपः। असंसक्त-मनाः, नित्यम्, प्राप्त-अप्राप्तम्-उपाश्नुते।

जीवन्मुक्त मनुष्य पदार्थों, धन-दौलत से द्वेष नहीं करता और न उनके प्रति लोलुप होता है। वह सदैव अनासक्त मन का होता है। अतएव जीवन-निर्वाह की वस्तुओं की प्राप्त-अप्राप्त स्थिति में समता से निर्वाह करता है।

भाष्य—संसार की वस्तुओं से शरीर-निर्वाह होता है, तो उनसे द्वेष करने की बात ही नहीं है। ज्ञानी उनके प्रति लोभी नहीं होता। वह सदा **असंसक्तः मन=** अनासक्त मन वाला होता है। जब जैसा जो मिल जाता है

विवेकपूर्वक, **उपाश्नुते** = उप-अश्नुते-उपयोग करता है।

127. समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥ 18 ॥

समाधान-असमाधान-हित-अहित-विकल्पना। शून्य-चित्तः, न, जानाति, कैवल्यम्-इव, संस्थितः।

कैवल्य के समान स्थित शून्यचित्त ज्ञानी समाधान, असमाधान, हित तथा अहित नहीं जानता।

भाष्य—ज्ञानी जीवन्मुक्ति दशा में कैवल्य के समान रहता है, पूरा कैवल्य नहीं; क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुष देहधारी होता है, अतएव उसे जगत का भास रहता है। यद्यपि वह जगत से पूर्ण अनासक्त रहता है, तथापि उसे जगत की प्रतीति तो रहती ही है। जीवन्मुक्त शून्यचित्त होता है। वह संकल्प-विकल्प त्यागकर स्वरूपभाव में जीता है और मन-इंद्रियों से जगत-व्यवहार भी विवेकपूर्वक करता है। अतएव उसका शून्यचित्त होना भी सापेक्ष है। जब तक देह है तब तक मन-इंद्रियों का व्यवहार है। ज्ञानी समाधान-असमाधान, हित तथा अहित नहीं जानता, यह कथन भी सापेक्ष ही है। वह हित-अहित समझता है और समाधान-असमाधान भी समझता है। यह सबका तात्पर्य है कि वह आवश्यक व्यवहार करते हुए सारी चिंताओं से मुक्त रहता है।

128. निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति, न॥ 19॥

निर्ममः, निरहंकारः, न, किंचित्-इति, निश्चितः। अन्तः-गलित-सर्वाशः, कुर्वन्-अपि, करोति न।

जो ममता-हीन तथा अहंकार शून्य है, जिसे यह निश्चय है कि मुझमें देह से लेकर संसार तक कुछ नहीं है, और जिसके अंतःकरण की सारी आशा-तृष्णा नष्ट हो गयी है, वह जगत-व्यवहार का कर्तव्य करते हुए मानो नहीं करता है।

भाष्य—ममता और अहंकार-शून्य, आशा-तृष्णा-मुक्त तथा शरीर-

संसार को न के समान देखने वाला पूर्णकाम एवं कृतकृत्य होता है। उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। परंतु वह लोक-कल्याण के लिए कर्तव्य-कर्म करता है। फिर करते हुए भी वह मानो नहीं करता; क्योंकि अहंता-ममता न होने से उसके कर्तव्य-कर्म बंधन नहीं बनते। वह विषय भोग और हिंसा नहीं करेगा, अपितु अपने शरीर का शुद्ध जीवन-निर्वाह लेगा और जगत के कल्याण के लिए उन्हें सदुपदेश देगा। यह सब कर्म उसके लिए बंधन नहीं बनेगा।

129. मन:प्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः॥ 20॥

मनः-प्रकाश-संमोह-स्वप्न-जाड्य-विवर्जितः। दशाम्, काम्-अपि, संप्राप्तः, भवेत्-गलित-मानसः।

जिसका मन गलकर अहंता-ममताहीन हो गया है उसके मन के विस्तार, संमोह, स्वप्न और जड़ता समाप्त हो जाते हैं। यह दशा किसी विरले को प्राप्त होती है।

भाष्य—गलित मानसः भवेत्= जो गलित मन का हो गया, जिसका अहंकार-ममकार पूर्ण मिट गया, वह मनः प्रकाश, संमोह, स्वप्न और जाड्य से विवर्जित हो जाता है। मनः प्रकाश का अर्थ है मन का विस्तार मन का फैलाव, तृष्णा; संमोह है प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का राग, आसक्ति; स्वप्न है राग-द्वेषात्मक कल्पनाएं, संकल्प-विकल्प और जाड्य-जड़ता है साधना में उत्साह-हीनता। अहंकार-शून्य और ममता-हीन साधक के ये सब समाप्त हो जाते हैं। **दशाम् काम् अपि संप्राप्तः**= यह उच्चस्थिति किसी विरले को प्राप्त होती है।

साधक की विशेषता है **गलित मानसः** होना, अहंकार-शून्य होना, फिर सारे सद्गुण अपने आप आ जायेंगे।

अठारहवां प्रकरण

130. यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः।

तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे॥ 1॥

यस्य, बोध-उदये, तावत्-स्वप्नवत्-भवति, भ्रमः। तस्मै, सुख-एक-रूपाय, नमः, शान्ताय, तेजसे।

जिस साधक के हृदय में स्वरूप-बोध उत्पन्न होते ही अहंता-ममता, राग-द्वेष और इनका आधार दृश्य जगत स्वप्न के समान लगने लगते हैं, उस अद्वितीय सुखस्वरूप, ज्ञान ज्योतित शांतात्मा को नमस्कार है।

भाष्य—यस्य=जिस साधक के हृदय में, **बोध उदये तावत्**=स्वरूपज्ञान उदय होते ही, **भ्रमः**=अहंता-ममता, राग-द्वेष और इनका आधार दृश्य जगत, **स्वप्नवत् भवति**=स्वप्न के समान प्रतीत होने लगते हैं; **तस्मै**=उस, **सुख एक रूपाय**=अद्वितीय सुख स्वरूप, **तेजसे**=ज्ञान ज्योति, **शान्ताय**=शांतात्मा को, **नमः**=नमस्कार है।

स्वरूपज्ञान हो जाने पर भी राग-द्वेष में जलते रहना अपना बनाया दुर्भाग्य है। साधक सारा अहंकार छोड़ दे, बच्चे के समान सरल हो जाय। जिसको सारा संबंध स्वप्नवत लगता है, वह सबकी सहकर सेवा करता है और शांति दशा में रहता है। वह कहीं उलझता नहीं है।

131. अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।

नहि सर्वपरित्यागमन्तरेण् सुखीभवेत्॥ 2॥

अर्जयित्वा-अखिलान्-अर्थान्, भोगान्-आप्नोति, पुष्कलान्। न-हि, सर्व-परित्यागम्-अन्तरेण, सुखी-भवेत्।

सभी प्रकार की संपत्ति का संग्रह किया गया और जमकर खूब भोग

भोगा गया, परंतु सब कुछ का त्याग किये बिना सुखी नहीं हो सकता है।

भाष्य—**अखिलान् अर्थान् अर्जयित्वा**= सभी प्रकार की संपत्ति पैदा की गयी, इकट्ठी की गयी, धन-सामान खूब जोड़ा गया और प्राणियों पर अधिकार जमाया गया। **पुष्कलान् भोगान् आप्नोति**= अत्यधिक भोग पाया गया-भोगा गया। परंतु **सर्व परित्याग अन्तरेण**= सब कुछ के त्याग के बिना, **सुखी न हि भवेत्**= सुखी नहीं हो सकता।

संसारी बुद्धि है, उचित-अनुचित किसी प्रकार खूब धन इकट्ठा करो, मनुष्यों पर अधिकार करो और इंद्रियों के भोगों में डूब जाओ, तब अगाध सुख मिलेगा। विवेक बुद्धि है, अपनी श्रेणी के अनुसार परिश्रम करो, प्राप्त वस्तुओं से शुद्ध सात्विक रीति से देह-निर्वाह लो। अधिक वस्तुओं को दूसरों की सेवा में लगाओ। किसी पर अपना अधिकार न गांठो। सबसे निष्काम रहो। मन-इंद्रियों को संयत कर अंतर्मुख होकर शांति में डूबो, तब सच्चा सुख मिलेगा।

मनुष्य चाहे जितना धन-जन इकट्ठा कर इंद्रिय-भोग में लगे, वह दुखी, असंतुष्ट और अशांत ही रहेगा। सच्चा सुख, अगाध अमृत भोगों को त्याग कर अंतर्मुख होने में है।

132. कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥ 3॥

कर्तव्य-दुःख-मार्तण्ड-ज्वाला-दग्ध-अन्तरात्मनः। कुतः, प्रशम्-पीयूष-धारा-सारम्-ऋते, सुखम्।

अपने किये हुए कर्म के परिणाम में प्राप्त हुए दुखरूपी सूर्य की ज्वाला से विदग्ध मन शांतिरूपी अमृत की सच्ची धारा से सींचे बिना कहां से सुखी हो सकता है?

भाष्य—कर्तव्य का अर्थ होता है करने योग्य; परंतु यहां अर्थ है जो कुछ हम अहंकार-कामना के अधीन होकर कर्म किये या करते हैं, उसके परिणाम में दुख मिलना ही है। वह दुख मानो उत्तप्त सूर्य है। उसके ताप से मनुष्य का अंतरात्मा, अंतःकरण एवं मन जल रहा है। **प्रशम पीयूष सारम् धारा**= शांति रूपी अमृत की सच्ची धारा के, **ऋते**= बिना, **कुतः सुखम्**= कहां से सुख मिलेगा?

मनुष्य उल्टा-सीधा सोचकर, बोलकर और इंद्रियों से करके रात-दिन जलता है। शांतिरूपी अमृत की सच्ची धारा से अंत:करण सींचकर ही सुख मिलेगा। कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि पूरा निर्मान और निष्काम होकर सच्चा सुख मिलेगा जो मन की शांति है।

133. भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानंभावाभावविभाविनाम्॥ 4॥

भवः-अयम्, भावना-मात्रः, न, किंचित्-परमार्थतः। न-अस्ति-अभावः, स्वभावानाम्-भाव-अभाव-विभाविनाम्।

यह संसार भावना मात्र है। यह थोड़ा भी सत्य नहीं है। परंतु स्व-अस्तित्व का अभाव नहीं है। इस प्रकार अस्तित्व और अनस्तित्व स्पष्ट हैं।

भाष्य—अयम् भवः= यह संसार, **भावना मात्रः**= कल्पना मात्र है, मान्यता मात्र है, **परमार्थतः**= सच्चाई में, **किंचित् न**= कुछ भी नहीं है। परंतु, **स्व-भावनाम्**= अपना अस्तित्व, आत्म-अस्तित्व, **अभावः न अस्ति**= अभाव नहीं है। इस प्रकार, **भाव-अभाव**= अस्तित्व-अनस्तित्व, **विभाविनाम्**= स्पष्ट है।

जड़ कारण-कार्य का जो प्राकृतिक प्रवहमान जगत है, यह अपने क्षेत्र में सत्तावान है, अनादि-अनंत है। यह भावना एवं कल्पना मात्र नहीं है किंतु जो इसकी वासना एवं अध्यास है, यह भावना मात्र है, कल्पना मात्र है। यही भव है, संसार है, भवसागर है। हमारे मन का मोह ही भवसागर है और यह भावना मात्र है, कल्पना मात्र है। इसका कोई द्रव्यात्मक अस्तित्व नहीं है। अतः इसे त्याग देने पर मुक्ति है।

स्वभाव का अभाव नहीं हैं, स्व-अस्तित्व का अभाव नहीं है। मेरे में वासना कल्पना मात्र है। उसकी सच्ची सत्ता नहीं है। उसे त्याग देने पर वह नष्ट हो जाती है। परंतु मैं से मैं का त्याग असंभव है। मैं में मैं का अभाव कभी नहीं हो सकता। मैं में जगत-वासना की सत्ता सच्ची नहीं है, अपितु काल्पनिक है, किंतु मैं में मेरी सत्ता, चेतन आत्मा की सत्ता सदैव सच्ची है। इस प्रकार सत्ता-असत्ता स्पष्ट है।

मेरे जीवन में दो मैं हैं; एक नकली, दूसरा असली। देह तथा उसके नाम-रूप नकली मैं है और आत्म-अस्तित्व असली मैं है। यह है सत्ता-

असत्ता का स्पष्टीकरण।

134. न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम्॥ 5॥

न, दूरम्, न, च, संकोचात्-लब्धम्-एव-आत्मनः, पदम्। निर्विकल्पम्, निरायासम्, निर्विकारम्, निरंजनम्।

निर्विकल्प, निर्विकार और मायातीत आत्म-अस्तित्व न दूर है और न निकट है, अपितु बिना परिश्रम के सदा प्राप्त ही है।

भाष्य—निर्विकल्पम्= संकल्प-विकल्प रहित, **निर्विकारम्**= परिवर्तनरहित, **निरंजनम्**= मायातीत, **आत्मनः पदम्**= आत्म-अस्तित्व, **न दूरम् न च संकोचम्**= न दूर है और न निकट है अपितु, **निरायासम्**= बिना परिश्रम के सदा, **लब्धम् एव** = प्राप्त ही है।

अपने आपके होने में मुझे क्या कठिनाई अनुभव करना पड़ता है? मैं तो हूं ही। बस, आत्म-अस्तित्व को निर्विकार, निर्मल चेतन समझना चाहिए और वैसे मन बनाकर जीवन व्यतीत करना चाहिए।

135. व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः॥ 6॥

व्यामोह-मात्र-विरतौ, स्वरूप-आदान-मात्रतः। वीत-शोकाः, विराजन्ते, निरावरण-दृष्टयः।

केवल जड़-दृश्य का मोह मिटते और स्वरूप का बोध होते ही अंतःकरण का परदा हट जाता है और मनुष्य शोक से मुक्त होकर संसार में शोभा पाता है।

भाष्य—व्यामोह मात्र विरतौ= केवल मोह से छूटते और, **स्वरूप आदान मात्रतः**= स्वरूप का बोध होते ही, **निरावरण दृष्टयः**= भीतर की आंखों के परदे हट जाते हैं और, **वीत शोकाः विराजन्ते**= मनुष्य शोक से मुक्त होकर संसार में शोभा पाता है।

जब निजस्वरूप का बोध होता है कि मैं जगत-प्रपंच-रहित, निर्मल, परमतृप्त एवं शांत स्वरूप हूं, तब इस कूड़ा-कचड़ा जड़-दृश्य का मोह

मिट जाता है और मन का भ्रम मिट जाता है। जो हम भूल-वश आज तक जड़-दृश्य में सुख मानकर उसमें अहंता-ममता किये बैठे थे, वह पूरा धोखा साबित होता है। यही निरावरण दृष्टय: होना है। भीतर की आंखों-विचार-विवेक पर पड़े परदे का नष्ट होना है।

136. समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्ति बालवत्॥ 7॥

समस्तम्, कल्पना-मात्रम्-आत्मा, मुक्तः सनातनः। इति, विज्ञाय, धीरः, हि, किम-अभ्यस्ति, बालवत्।

सारा संबंध कल्पना मात्र है, आत्मा शाश्वत और स्वरूपतः मुक्त ही है; जो धीरवान पुरुष इस तथ्य को समझ लिया, वह बालक के समान झूठमूठ का खेल क्यों करेगा?

भाष्य—बालक धूल का घर बनाते हैं और धूल के दाल-भात बनाते हैं और उनके लिए आपस में लड़ भी जाते हैं। धीरवान मनुष्य ने समझ लिया है कि शरीर तथा शरीर संबंधी प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति का संबंध कल्पना मात्र, मानना मात्र और क्षणिक है और मेरा अपना अस्तित्व सर्व प्रपंचरहित, मुक्त और सनातन है; फिर वह दुनियवी क्षणिक वस्तुओं के लिए कलह क्यों करेगा! ज्ञानी पुरुष धीरवान होता है। वह प्रकंपित नहीं होता। वह समझता है कि अंततः मेरे साथ कुछ न रहेगा।

137. आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥ 8॥

आत्मा, ब्रह्म-इति, निश्चित्य, भाव-अभावौ, च, कल्पितौ। निष्कामः, किम्, विजानाति, किम्, ब्रूते, च, करोति, किम्।

आत्मा ब्रह्म है और भाव-अभाव कल्पित हैं, ऐसा निश्चय हो जाने पर ज्ञानी निष्काम हो जाता है, फिर वह क्या जाने, क्या बोले और क्या करे?

भाष्य—ब्रह्म-परमात्मा आदि शब्दों का आधार लेकर उनके अर्थ के रूप में मनुष्य परोक्ष में भटकता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह आत्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म है और जड़-वस्तुओं के प्रति भाव-अभाव की बातें

कल्पना मात्र हैं। इतना निश्चय हो जाने पर न कुछ जानना रहता है, न बोलना रहता है और न करना रहता है। दृश्य का अभाव कर अपने स्वरूप में विश्राम हो जाने पर कोई कर्तव्य ही नहीं रहता। शरीर-निर्वाह और लोक-कल्याण के लिए कर्तव्य कर्म करना यह सहज कर्तव्य है।

138. न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढ़ता।
न सुखं न च दुःखमुपशान्तस्य योगिनः॥ 10॥

न, विक्षेपः, न, च-एकाग्र्यम्, न-अतिबोधः, न, मूढ़ता, न, सुखम्, न, च, दुःखम्-उपशान्तस्य, योगिनः।

पूर्ण शांत मन वाले योगी के मन में चंचलता नहीं है इसलिए एकाग्र करने की आवश्यकता नहीं है। वह दुनियादारी की बहुत बातें नहीं जानता और उसे मूढ़ता भी नहीं है। न वह दुनियादारी की उपलब्धियों में सुख मानता है और न वह उनके बिना दुखी होता है।

भाष्य—जिसका मन उपशांत है, पूर्ण शीतल है, उसके सारे उपद्रव समाप्त हैं। उसे दुनिया के प्रपंच नहीं सताते। उसका बेड़ा पार है।

139. स्वाराज्ये भैक्ष्यवृतौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः॥ 11॥

स्वाराज्ये, भैक्ष्यवृत्तौ, च, लाभालाभे, जने, वने। निर्विकल्प-स्वभावस्य, न, विशेषः-अस्ति, योगिनः।

संकल्प-विकल्प-रहित स्वभाव वाले शांतात्मा योगी के लिए लौकिक लाभ, स्वर्ग का राज्य तथा जनसमूह से सत्कार मिलने अथवा लौकिक हानि, भिक्षा करके खाने और वन में रहने से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।

भाष्य—**स्वा-राज्य=**स्वर्ग का राज्य, भिक्षावृत्ति, लाभ-हानि, जन-वन कुछ रहने वाला नहीं है। स्वर्ग तो काल्पनिक है, परंतु संसार में प्राप्त अतुल ऐश्वर्य से कौन सुखी हुआ है! जिनका निर्विकल्प स्वभाव है, जो मन की उठा-पटक से रहित शांतात्मा हैं वे सारी उपलब्धियों को क्षणिक समझकर समता में बरतते हैं।

140. कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना।
यथाजीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥ 13॥

कृतम्, किम-अपि, न-एव-अस्ति, न, का-अपि, हृदि, रंजना। यथा-जीवनम्-एव-इह, जीवन्मुक्तस्य, योगिनः।

जीवन्मुक्त योगी के लिए कुछ करना शेष नहीं रहता। न उसके हृदय में कोई राग रहता है। बस, जीवन में यथायोग्य व्यवहार करते हुए कालक्षेप करता है।

भाष्य—जब मन में राग-द्वेष नहीं हैं, संसार की कोई कामना नहीं है, तब उसे कुछ करना नहीं रहा। जीवन्मुक्त तृप्तात्मा होता है। प्रारब्धानुसार व्यवहार करते हुए वह शांति में विहरता है।

141. क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥ 14॥

क्व, मोहः, क्व, च, वा, विश्वम्, क्व, तत्-ध्यानम्, क्व, मुक्तता। सर्व-संकल्प-सीमायाम्, विश्रान्तस्य, महात्मनः।

जो महात्मा सभी संकल्पों की सीमा—निर्विकल्प स्थिति में विश्राम करते हैं, उनके लिए मोह कहां, संसार कहां, उसका ख्याल कहां, उससे मुक्ति लेने की बात कहां?

भाष्य—सर्व संकल्प सीमायाम्= सभी संकल्पों की समाप्ति पर—निर्विकल्प दशा में जो महात्मा विश्राम पा गया है, जो मन के द्वंद्वों से पार है, उसके लिए न संसार है, न मोह है, न उसका चिंतन है और न उससे मुक्ति लेने की अब बात रह गयी है। वह तो सदा मुक्त ही है।

142. येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥ 15॥

येन, विश्वम्-इदम्, दृष्टम्, सः, न-अस्ति-इति, करोतु, वै। निर्वासनः, किम्, कुरुते, पश्यन्-अपि, न, पश्यति।

जिसने इस संसार को देखा हो, वह कहे कि संसार नहीं है। जिसको कोई वासना ही नहीं है, वह क्या कहे। वह तो देखते हुए भी नहीं देखता।

भाष्य—यह जड़ प्रकृति-रचित संसार सब देहधारियों के सामने है। देह भी तो संसार का ही भाग है। सभी लोग संसार को देखते हैं और उससे द्वंद्व पाते हैं। इसीलिए उससे मुक्ति लेने के लिए ज्ञान और साधनाएं हैं। ग्रंथकार मस्तानगी भरी वाणी कहते हैं कि जिसने संसार को देखा हो वह कहे कि संसार नहीं है, केवल मैं हूं। परंतु मैं तो वासना-हीन हूं। संसार को देखते हुए भी नहीं देखता हूं, फिर संसार नहीं है कहने की क्या आवश्यकता! वस्तुतः संसार तो है ही। हमें उसकी वासना त्यागकर स्वयं में शांत रहना है।

143. येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।
किं चिंतयति निश्चिंतो द्वितीयं यो न पश्यति॥16॥

येन, दृष्टम्, परम्, ब्रह्म, सः-अहम्, ब्रह्म-इति, चिन्तयेत्। किम्, चिन्तयति, निश्चितः, द्वितीयम्, यः, न, पश्यति।

जिसने परम ब्रह्म को देखा हो, वह चिंतन करे कि मैं वही ब्रह्म हूं; परंतु जो चिंता-हीन है वह क्यों सोचे कि मैं वही ब्रह्म हूं। वह तो द्वैत को देखता ही नहीं है।

भाष्य—यहां भी ग्रंथकार की वही मस्तानगी है। ब्रह्म अलग हो और उसको देखा गया हो, तब यह कहा जाय **सोऽहम् ब्रह्म**=मैं वही ब्रह्म हूं। अंतिम बात है चिंताहीन होने की। जो चिंताहीन है, निश्चिंत है, निर्विकल्प है, वह द्वैत को देखता ही नहीं है। मन ही द्वैत बनाता है। जब मन परखकर उसे शांत कर दिया तब आत्मा रह गया स्वयं शेष। मन शांत होने पर द्वैत नहीं रहता। अतएव साधक को चाहिए कि संकल्प-विकल्प त्यागकर शांत हो जाय।

144. दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तु न विक्षप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥ 17॥

दृष्टः, येन-आत्म-विक्षेपः, निरोधम्, कुरुते, तु-असौ। उदारः-तु, न,

विक्षिप्तः, साध्य-अभावात्-करोति, किम्।

जो अपने मन में चंचलता देखता है, वह साधक उसको शांत करने के लिए चित्तवृत्ति का निरोध करता है। मुक्त हृदय ज्ञानी के चित्त में चंचलता ही नहीं है। साध्य है शांति, वह सब समय विद्यमान है, तब चित्त-निरोध क्या करे!

भाष्य—उदारात्मा, मुक्त-हृदय आत्मा विक्षेप-रहित, चंचलता-रहित निरंतर गहरी शांति में है। उसके लिए शांति साध्य नहीं रही, क्योंकि शांति में तो वह हर समय डूबा ही है। अब शांति पाना नहीं है तो वह उसके लिए साधना क्या करे। अतएव, **सध्य अभावात् करोति किम्**= साध्य के अभाव में क्या करे? शांति पाना नहीं रहा तो साधना क्या करे। वह तो निरंतर शांति सागर है।

145. धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति॥ 18॥

धीरः, लोक-विपर्यस्तः, वर्तमानः-अपि, लोक-वत्। न, समाधिम्, न, विक्षेपम्, न, लेपम्, स्वस्य, पश्यति।

शांतात्मा ज्ञानी की आंतरिक स्थिति संसारियों से उलटी होती है, परंतु वे दिखते हैं संसारी-जैसे। वे न अपने में चंचलता देखते हैं, न समाधि देखते हैं और न मल देखते हैं।

भाष्य—**धीरः लोक विपर्यस्तः**= शांतात्मा ज्ञानी पुरुष सांसारिक दशा से विपरीत होते हैं। संसारी मनुष्य चिंता में डूबे हैं, परंतु ज्ञानी निश्चिंत होते हैं। **वर्तमानः अपि लोकवत्**= परंतु वे संसारियों की तरह ही खाते, पीते, सोते-जागते-हंसते-बोलते तथा शरीर-व्यवहार करते हैं। वे अपने में विक्षेप, लेप और समाधि—चंचलता, मल और समाधि नहीं देखते।

जिनके चित्त में चंचलता नहीं, राग-द्वेष का मल नहीं, संकल्प-विकल्प एवं उद्वेगों का द्वंद्व नहीं, वे सब समय समाधि में हैं।

146. भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥ 19॥

भाव-अभाव-विहीनः, यः-तृप्तः, निर्वासनः, बुधः। न-एव, किंचित्-कृतम्, तेन, लोक-दृष्ट्या, विकुर्वता।

जो जगा हुआ पुरुष भाव-अभाव से परे, वासना-विहीन और तृप्त है, वह संसार के देखने में कर्मशील है, किंतु उसको कुछ करना शेष नहीं रहता।

भाष्य—यः बुधः= जो जगा हुआ पुरुष, **भाव-अभाव विहीनः**= लाभ-हानि से परे है, और **निर्वासनः तृप्तः**= वासनाहीन एवं तृप्त है, **लोक दृष्ट्या विकुर्वता**= लोगों के देखने में कर्म करता हुआ लगता है, परंतु, **तेन न एव किंचित् कृतम्**= उसको कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

जो वासनाहीन है, जाग्रत है, तृप्त है, लाभ-हानि से परे है, उसको अब क्या करना रहा; परंतु लोकमंगल के लिए वह कर्तव्य कर्म करता है।

147. प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्॥ 20॥

प्रवृत्तौ, वा, निवृत्तौ, वा, न-एव, धीरस्यः, दुर्ग्रहः। यदा, यत्-कर्तुम्-आयाति, तत्-कृत्वा, तिष्ठतः, सुखम्।

धैर्यवान ज्ञानी को प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का हठ नहीं होता। वह जब जैसा कर्तव्य कर्म आता है वैसा करके शांति से जीवन जीता है।

भाष्य—प्रवृत्ति का बंधन तो है ही, निवृत्ति का ढोंग उससे बड़ा बंधन है। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति में निवृत्ति है और अविवेकपूर्वक निवृत्ति में प्रवृत्ति है। इसलिए विवेकवान प्रवृत्ति-निवृत्ति का दुराग्रह नहीं करता। वह प्रारब्ध-यात्रा में जब जैसा उपयुक्त होता है वैसा कर्तव्य कर्म कर लेता है। इस प्रकार हठ-रहित संत शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

148. निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥ 21॥

निर्वासनः, निरालम्बः, स्वच्छन्दः, मुक्त-बन्धनः। क्षिप्तः, संस्कार-वातेन, चेष्टते, शुष्क-पर्णवत्।

जीवन्मुक्त पुरुष वासना-हीन, स्वावलंबी, स्वच्छंद और बंधनों से मुक्त होते हैं। वे प्रारब्ध-संस्काररूपी वायु से प्रेरित हुए जीवन-यात्रा की चेष्टा उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार निष्क्रिय सूखे पत्ते वायु के वेग से उड़ते हैं।

भाष्य—जिसके मन से संसार की सारी वासनाएं समाप्त हो गयीं, जो अपने असंगभाव में स्थित है, जिसके मन से राग-द्वेष के मल धुल गये हैं और जो मन के सारे बंधनों से छूटा हुआ है, उसे अब कुछ न पाना रहा, न भोगना रहा। न जानना रहा और न कुछ करना रहा। सूखे पत्ते हवा के वेग से उड़ते हैं, वैसे ज्ञानी का शरीर प्रारब्ध-वेग से वर्तमान करता है और वह जीवन-यात्रा में यथायोग्य व्यवहार करता है। वह सब समय कृतार्थ है।

149. असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादिता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥ 22॥

अ-संसारस्य, तु, क्व-अपि, न, हर्षः, न, विषादिता। स, शीतल-मनाः, नित्यम्, विदेह, इव, राजते।

जिसके मन का संसार समाप्त हो गया है उसको न कहीं कभी हर्ष होता है और न शोक होता है। वह सदैव शीतल मन का संत विदेह-मुक्त के समान संसार में शोभा पाता है।

भाष्य—**अ-संसारस्य=** संसारहीन को, जो संसार से परे है वह हर्ष-शोक से परे है। बाहर का संसार हमें नहीं बांधता है। बांधने वाला संसार हमारे मन में है—भोग और प्रतिष्ठा की कामना तथा देह तथा देह संबंधी प्राणी-पदार्थों का अहंकार। इनके पूर्ण विलीन होने पर संसार स्वप्नवत लगता है। सारा दृश्य तो तीव्रगति से भाग रहा है। तुम किस बात को लेकर हर्ष-विषाद में हो? ज्ञानी सब कुछ के अंत को हर क्षण देखता है। वह निरंतर शीतल मन का होता है। अतएव देह में रहते हुए विदेह के समान विराजता है—**विदेह इव राजते।**

150. कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥ 23॥

कुत्र-अपि, न, जिहासा-अस्ति, नाशः, वा-अपि, न, कुत्रचित्। आत्मारामस्य, धीरस्य, शीतल-अच्छतः-आत्मनः।

निरंतर आत्माराम में रमने वाले शीतल और स्वच्छ हृदय के धीरवान संत को न कुछ कहीं त्यागना रहता है और न कुछ कहीं नष्ट होने का भय रहता है।

भाष्य—आत्मारामस्य=सदैव आत्माराम में रमने वाले, **शीतल अच्छतः**=शांत और स्वच्छ हृदय, **धीरस्य**=धीरवान संत को, **कुत्र अपि न जिहासा अस्ति**=कुछ कहीं भी न त्यागना रहता है और, **न कुत्रचित् नाशः अस्ति**=न उसका कहीं कुछ नष्ट होने वाला रहता है।

आत्मा अमर है और नित्य असंग है। उसमें न कुछ त्याग है न ग्रहण है, न वृद्धि है और न नाश है। शीतल स्वच्छ मन वाले आत्माराम संत सदैव निर्भय हैं।

151. प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृत्यस्येव धीरस्य न मानो नावमानिता॥ 24॥

प्रकृत्या, शून्य-चित्तस्य, कुर्वतः-अस्य, यदृच्छया। प्राकृत्यस्य-एव, धीरस्य, न, मानः, न-अवमानिता।

जो धीरवान ज्ञानी स्वभाव से शून्यचित्त है वह इस प्रारब्धानुसार मिले हुए कर्तव्य कर्म को सहज स्वभाव से ही करता है। उसे उसके फल में सम्मान-अपमान की चिंता नहीं रहती।

भाष्य—प्रकृत्या शून्यचित्तस्य=स्वभाव से ही जो संकल्प-विकल्प एवं उद्वेग-रहित है, वह, **धीरस्य**=धीर ज्ञानी पुरुष, **अस्य यदृच्छया**=इस प्रारब्धानुसार मिले हुए कर्तव्य कर्मों को, **प्राकृत्यस्य एव**=सहज स्वभाव से ही, **कुर्वतः**=करता है। उसे उसके परिणाम में, **मानः न अवमानिता**=सम्मान और अपमान की चिंता नहीं रहती।

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य बड़ा महत्त्वपूर्ण कथन है। जो स्वभाव से ही शून्यचित्त है, संकल्प-विकल्प रहित, उद्वेगशून्य, शांतात्मा है, वह हठपूर्वक काम नहीं करता। वह प्रारब्धानुसार एवं सहज आये हुए कर्तव्य कर्म को सहज स्वभाव से ही करता है। उसे उसके परिणाम में सम्मान पाने की

इच्छा नहीं रहती, और यदि अच्छा काम करते हुए अपमान मिले, तो उसकी उसे चिंता नहीं रहती क्योंकि वह धीरवान है। वह प्रकंपित नहीं होता। वह समझता है कि सहज भाव से सेवा करना चाहिए, फल की कुछ इच्छा ही नहीं है। यदि अच्छा करते हुए फल बुरा मिले तो इसकी कोई परवाह नहीं। अच्छा करना ही बहुत अच्छा फल है।

152. कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिन्तानिरोधी यः कर्वन्नपि करोति न॥ 25॥

कृतम्, देहेन, कर्म-इदम्, न, मया, शुद्ध-रूपिणा। इति, चिन्तानिरोधी, यः, कर्वन्-अपि, करोति, न।

यह कर्म देह ने किया है; यह मेरा किया हुआ नहीं है; क्योंकि मैं तो शुद्ध चेतनस्वरूप हूं; जो इस प्रकार विचार कर कर्म करता है, वह करते हुए भी नहीं करता है।

भाष्य—मैं शुद्ध चेतन हूं, स्वभाव से निष्क्रिय हूं। जो कर्म होते हैं वे शरीर से होते हैं, मुझ चेतन से नहीं, **यः चिन्तानिरोधी**=जो ऐसा चिंतन करता है, वह, **कर्वन् अपि करोति न**=करते हुए भी नहीं करता है।

आत्मा स्वभाव से भले अकर्ता है, परंतु देह में रहकर वही कर्ता है। प्रेरक ही कर्ता है। चेतन आत्मा देह, इंद्रिय, मन का प्रेरक है, अतएव वही कर्ता है। बात यह है कि कर्म करने का अहंकार ज्ञानी नहीं करता। वह समझता है कि सारे कर्म देह से होते हैं, मैं तो प्रेरक मात्र हूं। इसमें अहंकार करने की गुंजाइश नहीं है। ऐसा निर्मान होने से ही वह उसके पीछे हर्ष-शोक में नहीं पड़ता।

153. अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥ 26॥

अतद्-वादी-इव, कुरुते, न, भवेत-अपि, बालिशः। जीवन्मुक्तः, सुखी, श्रीमान्, संसरन्-अपि, शोभते।

उलटी बात करने वाले के समान ज्ञानी कर्म करते हुए भी मूर्ख नहीं होता है। वह श्रीमान जीवन्मुक्त तथा सुखी होता है। वह कर्म करते हुए भी

शोभा पाता है।

भाष्य—**अतद्-वादी इव**= उलटा कहने वाले के समान ज्ञानी, **कुरुते अपि**= कर्म करते हुए भी, **बालिसः न भवेत्**= मूर्ख नहीं होता है। वह श्रीमान जीवन्मुक्त सुखी होता है। वह **संसरन् अपि**= कर्म करते हुए भी, **शोभते**= शोभा पाता है।

जीवन्मुक्त संत लोक-मंगल का काम करता है और कहता है कि मैं कुछ नहीं करता हूं। यह अतद्वादी के समान है। अतद् का अर्थ है उलटा। **अतद्वादी** वह है जो उलटा कहता है। ग्रंथकार कहते हैं कि ज्ञानी **अतद्वादी-इव-कुरुते**= उलटा कहने वाले के समान कर रहा है। वह करता है, परंतु कहता है कि मैं नहीं कर रहा हूं। ग्रंथकार कहते हैं, लेकिन, **बालिशः न भवेत्**= वह मूर्ख नहीं होता है। वह उच्च स्थिति में है। वह समझता है कि मैं शुद्ध, असंग, निर्विकार चेतन आत्मा हूं। मेरे में कर्म की गति ही नहीं है। देह-इंद्रिय-मन के संघात में सारे कर्म हो रहे हैं। मैं क्या कर रहा हूं! ज्ञानी कर्म करते हुए अहंकार-शून्य होता है। इसलिए उसे किसी स्थिति में हानि-लाभ और हर्ष-शोक नहीं सताते। इसलिए वह श्रीमान जीवन्मुक्त और सुखी होता है। वह कर्म करते हुए शोभा पाता है।

154. नानाविचार सुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति॥ 27॥

नाना-विचार, सुश्रान्तः, धीरः, विश्रान्तिम्-आगतः। न, कल्पते, न, जानाति, न, शृणोति, न, पश्यति।

धीरवान ज्ञानी संत के समस्त विचार शांत हो जाते हैं, इसलिए वह परम विश्राम पा जाता है। वह न संकल्प-विकल्प करता है, न जानता है, न सुनता है और न देखता है।

भाष्य—विचार, संकल्प-विकल्प, मन की तरंगें नाना प्रकार की होती हैं। वे जब **सुश्रांत**= पूर्ण शांत हो जाती हैं, तब **विश्रान्तिम् आगतः**= पूर्ण विश्राम आ जाता है। धीरवान पुरुष इस स्थिति को बनाये रखता है। वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है और न देखता है।

जब तक शरीर है तब तक मन-इंद्रियां साथ हैं। इसलिए जानना, देखना, सुनना आदि सहज होता रहता है, परंतु ज्ञानी इन सबसे थका हुआ

है। अब वह जानना, देखना, सुनना आदि नहीं चाहता है। किंतु देह व्यवहार तथा सेवा करना कर्तव्य है।

हम सबका नित्य का अनुभव है कि गाढ़ी नींद में जाकर हम कुछ नहीं जानते हैं, इसलिए सुख से सोते हैं। जो जाग्रत काल में मन-इंद्रिय समेटकर अंतर्मुख रहता है, वह जीवन्मुक्त है। सुषुप्ति का निाश्चिंत सुख अवस्थाजन्य है, इसलिए केवल सुषुप्ति में ही रहता है, जागने पर पुनः दुख शुरू हो जाता है; किंतु समाधि तथा अंतर्मुखता का निश्चिंत सुख बोधजन्य है, इसलिए समाधि के बाद भी वह स्थिर रहता है।

हर साधक को प्रतिदिन समय-समय न जानने, न देखने, न सुनने की दशा में स्थित होना चाहिए। पूर्ण अंतर्मुख हुए बिना पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा।

155. असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन्ब्रह्मैवास्ते महाशयः॥ 28॥

अ-समाधेः-अ-विक्षेपात्-न, मुमुक्षुः-न, च-इतरः। निश्चित्य, कल्पितम्, पश्यन्-ब्रह्म-एव-अस्ति, महाशयः।

महान विश्राम प्राप्त ज्ञानी विक्षेप में न होने से समाधि में नहीं होता है। वह मुमुक्षु नहीं होता है और उसका विरोधी भी नहीं होता है। वह सारे जड़दृश्य प्रपंच के संबंध को निश्चयपूर्वक कल्पित समझता है। वह महाशय ब्रह्म ही होता है।

भाष्य—अ-विक्षेपात्= विक्षेप न होने से, चंचल न होने से, **अ-समाधेः**= समाधि-रहित होता है। **न मुमुक्षुः न च इतरः**= वह न मोक्ष-इच्छुक होता है और न मोक्ष का विरोधी। वह जड़ दृश्य प्रपंच के संबंध को, **निश्चित्य कल्पितम् पश्यन्**= निश्चयपूर्वक कल्पित समझता है। **महाशयः**= महाविश्राम को प्राप्त वह ज्ञानी, **ब्रह्म एव अस्ति**= ब्रह्म ही है।

जब विक्षेप ही नहीं है तब समाधि की आवश्यकता कहां है? वह तो महाविश्राम में है, अतएव उसकी समाधि निरंतर है। वह जब हर क्षण मुक्त है तब उसमें मोक्ष की इच्छा कैसी जिससे वह मुमुक्षु हो। वह मोक्ष का विरोधी नहीं है, अपितु निरंतर मुक्ति में ही जी रहा है। जब वह सारा संबंध हर समय कल्पित एवं मिथ्या समझता है तब उसे कौन-सी साधना करना

शेष है? वह ब्रह्म ही है, महान है, परमात्मा है, गुरु है।

पूर्ण आत्मविश्राम उच्चतम स्थिति है। इसी की मस्तानगी में ग्रंथकार इस शैली का उपयोग कर रहे हैं। यहां समाधि लगाने का खंडन नहीं है। साधक को समाधि परायण होना चाहिए। यहां तो अखंड समाधि है।

156. यस्यान्तःस्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिदकृतं कृतम्॥ 29॥

यस्य-अन्तः-स्यात्-अहंकारः, न, करोति, करोति, सः। निरहंकार-धीरेण, न, किंचित्-अकृतम्, कृतम्।

जिसके हृदय में अहंकार है वह कुछ न करने पर भी करता है, किंतु अहंकार-शून्य धीरवान ज्ञानी पुरुष करते हुए कुछ नहीं करता है।

भाष्य—यस्य अन्तः= जिसके अंतःकरण में, **अहंकारः स्यात्**= अहंकार है, **सः**= वह, **न करोति करोति**= न करते हुए करता है; किंतु, **निरहंकार धीरेण**= अहंकार शून्य धीरवान ज्ञानी, **न किंचित् अकृतम् कृतम्**= करते हुए कुछ नहीं करता है।

जिसके मन में देहाभिमान, भोग और प्रतिष्ठा की कामना है वह बाहर से चुप बैठा हुआ भी भीतर संकल्प-विकल्पों और नाना प्रकार के उद्वेगों में उलझा रहता है। इसलिए वह कर्म न करते हुए भी कर्म करता है। किंतु जो अहंकार-कामनाशून्य है वह शरीर से कर्म करते हुए भी भीतर से प्रशांत रहता है, इसलिए उसका कर्म बंधनदायक नहीं रहता। अतएव वह करते हुए भी नहीं करता है।

157. नोद्विग्नं न च संतुष्टं कर्तृत्वमदवर्जितम्।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥ 30॥

न-उद्विग्नम्, न, च, संतुष्टम्, कर्तृत्व-मद-वर्जितम्। निराशम्, गतसंदेहम्, चित्तम्, मुक्तस्य, राजते।

जीवन्मुक्त संत के मन में उद्वेग नहीं होता। वे दुनियवी उपलब्धियों में संतोष नहीं करते। वे कर्तापने के अभिमान से रहित होते हैं। वे सांसारिक भोगों तथा प्रतिष्ठा से निराश तथा समझ में संदेह-रहित होते हैं। वे

मुक्तचित्त होकर संसार में शोभा पाते हैं।

भाष्य—प्रतिकूलता में उद्वेग और अनुकूलता में प्रसन्नता आती है। ज्ञानी इन दोनों में सम रहता है। वह जो कुछ करता है उसका उसे अहंकार नहीं रहता। वह सदैव निर्मान होकर सेवा करता है। सांसारिक ऐश्वर्य से उदास रहना अंतर्मुखता का लक्षण है। निस्संदेह बोध उच्चतम दशा है। पाना बाहर से कुछ नहीं है, अपितु अपने में समाहित रहना है। ये सब लक्षण जिसमें हैं वह मुक्तस्वरूप है।

158. निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चितं न प्रर्वतते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते॥ 31॥

निर्ध्यातुम्, चेष्टितुम्, वा-अपि, यत्-चित्तम्, न, प्रवर्तते। निर्निमित्तम्-इदम्, किंतु, निर्ध्यायति, विचेष्टते।

जिनका चित्त निष्चेष्ट होने अथवा क्रियावान होने में प्रवृत्त नहीं होता, किंतु बिना कारण सहज ही प्रयत्नवान होकर दृढ़ रहता है, वह कृतार्थ है।

भाष्य—**यत् चित्तम्**= जिसका मन, **निर्ध्यातुम्**= चेष्टाहीन, **वा**= अथवा, **चेष्टुतम्**= क्रियावान होने में, **न प्रर्वतते**= नहीं प्रवृत्त होता, **किंतु**= परंतु, **निर्निमित्तम्**= बिना कारण, सहज ही, **विचेष्टते**= प्रयत्नवान होकर, **निर्ध्यायति**= दृढ़ रहता है, वह कल्याण स्वरूप है।

ग्रंथकार का बारंबार जोर सहजता पर है। वे कहते हैं कि शरीर और उसके ऐश्वर्य अपनी ज्ञान-दृष्टि में निरस हो जाना चाहिए और दृढ़ वैराग्य द्वारा मन सदैव सहज ही अंतर्मुख होकर शांत रहे।

159. तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढ़ताम्।
अथवायाति संकोचममूढः कोऽपि मूढवत्॥ 32॥

तत्त्वम्, यथार्थम्-आकर्ण्य, मन्दः, प्राप्नोति, मूढ़ताम्। अथवा-आयाति, संकोचम्-अमूढः, कः-अपि, मूढवत्।

आत्मतत्त्व का यथार्थ निर्णय सुनकर भी मंदबुद्धि का मनुष्य जीवनपर्यंत मूढ़ ही बना रहता है, अथवा अपने को साधक प्रदर्शित करने के लिए इंद्रिय समेटने एवं संयम करने का दिखावा करता है। परंतु कोई

विरला होता है जो यथार्थ ज्ञानी और अंतर्मुख होता है, किंतु बाहर से मूर्ख के समान लगता है।

भाष्य—तत्त्वम् यथार्थम्= सत्य तत्त्व का, स्वस्वरूप का यथार्थ निर्णय, **आकर्ण्य**= सुनकर भी, **मंद**= मंदबुद्धि का मनुष्य, **मूढताम्-प्राप्नोति**= मूढ़ता ही प्राप्त करता है। **अथवा आयाति संकोचम्**= अथवा वह अपने को समेटता है—अपने को अंतर्मुख दिखाने के लिए ढोंग करता है। किंतु, **कः अपि**= कोई विरला **अमूढ़**= विवेकवान सच्चे अर्थ में अंतर्मुख होकर बाहर से, **मूढवत्**= मूर्खवत दिखता है।

ग्रंथकार का भाव प्रतीत होता है कि बहुत पढ़-सुनकर और बाहरी दिखावा करके अमृत स्थिति नहीं मिलती है, अपितु जो सद्गुरु से यथार्थ स्वरूप का बोध पाकर सच्चे अर्थ में आत्म-उद्धार में लगता है। वही स्वरूपस्थिति का अमृतरस पाता है, वह भले ही बाहर से मूर्खवत लगे।

160. एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥ 33॥

एकाग्रता, निरोधः, वा, मूढैः-अभ्यस्यते, भृशम्। धीराः, कृत्यम्, न, पश्यन्ति, सुप्तवत्-स्व-पदे, स्थिताः।

मूढ़ लोग एकाग्रता और चित्त-निरोध का बारंबार अभ्यास करते हैं; किंतु धैर्यवान ज्ञानी संत कुछ करना आवश्यक नहीं समझते हैं, अपितु वे सोये हुए के समान अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं।

भाष्य—मूढैः= मंदबुद्धि के लोग, **एकाग्रता निरोधः**= एकाग्रता और चित्तवृत्ति-निरोध का, **भृशम् अभ्यस्यते**= बारंबार अभ्यास करते हैं। परंतु, **धीराः**= द्वंद्वातीत संत, **कृत्यम् न पश्यन्ति**= कुछ करना नहीं देखते—कोई भी साधना करना आवश्यक नहीं समझते, अपितु वे, **सुप्तवत् स्व-पदे स्थिताः**= सोये हुए के समान अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं।

आत्मज्ञान-विहीन मनुष्य मूढ़ अवस्था में है क्योंकि उसके मन में विक्षेप है, चंचलता है। अतएव उसे बोधवान सद्गुरु से स्वरूपबोध प्राप्त कर बारंबार एकाग्रता एवं चित्त निरोध का अभ्यास करना ही चाहिए। यदि अभ्यास नहीं करेगा, तो स्वाभाविक-समाधि एवं सहज-समाधि की दशा में कैसे पहुंचेगा! अतएव साधकों को बारंबार समाधि-अभ्यास करना

चाहिए।

सुप्तवत् स्व-पदे स्थिताः उच्चतम दशा है। जैसे सुषुप्ति में चित्त पूर्ण शांत रहता है, वैसे पूर्णता प्राप्त संत निर्विकल्प दशा में सहज शांत रहते हैं।

161. अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः॥ 34॥

अप्रयत्नात्-प्रयत्नात्-वा, मूढः, न-आप्नोति, निर्वृतिम्। तत्त्व-निश्चय-मात्रेण, प्राज्ञः, भवति, निर्वृतः।

स्वरूपज्ञान-विहीन मूढ़ मनुष्य साधना करे अथवा न करे, पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाता; किंतु प्रज्ञावान आत्मतत्त्व के बोध मात्र से पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

भाष्य—मूढ़ का तात्पर्य है स्वरूपबोध-विहीन मनुष्य। जिसको स्वस्वरूप का यथार्थ बोध नहीं है, वह यदि साधना करता है तो उसे उसका फल अच्छा अवश्य मिलेगा, परंतु पूर्णता, निर्भ्रांत दशा एवं पूर्ण शांति नहीं मिलेगी। परंतु जिसे स्वस्वरूप का बोध प्राप्त हो गया है, उस प्रज्ञावान संत का स्वरूप के निश्चय मात्र से, **निर्वृतः भवति**= पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

तत्त्व निश्चय मात्रेण प्राज्ञः भवति निर्वृतः= तत्त्व निश्चय मात्र से प्रज्ञावान पूर्णता पा लेता है। परंतु यह तत्त्व निश्चय क्या है, इसे समझना चाहिए। यथार्थ का बोध तत्त्व निश्चय है। मैं असंग, अद्वितीय, अकेला, निर्मल तथा पूर्णकाम हूं, और प्रतीत मात्र जड़दृश्य का संबंध स्वप्नवत, क्षणिक और दुखपूर्ण है। दृश्य को छोड़कर अपने आप में तृप्त रहना जीवन लक्ष्य है। यह तथ्य जब निरंतर मन में बना रहे तब तत्त्व निश्चय होना माना जायेगा। इस बोध की निरंतरता के लिए गुरुभक्ति, संतसेवा, सत्संग, स्वाध्याय, ज्ञान-श्रवण, साधना, ध्यानाभ्यास आदि आवश्यक हैं।

162. शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥ 35॥

शुद्धम्, बुद्धम्, प्रियम्, पूर्णम्, निष्प्रपंचम्, निरामयम्। आत्मानम्, तम्, न, जानन्ति, तत्र-अभ्यास-परा, जनाः।

आत्मा शुद्ध, चेतन, प्रियतम, पूर्ण, निष्प्रपंच तथा नीरोग है, परंतु संसार में अनेक प्रकार के मत-मतांतरों के साधक जो साधना-अभ्यास में लगे हैं, वे इस तत्त्वज्ञान को नहीं जानते।

भाष्य—**तत्र**= वहां, संसार के अनेक मत-मतांतरों के, **जनाः**= साधक जो, **अभ्यास पराः**= साधना-अभ्यास में लगे हुए हैं, वे, **तम्**= उसे, **शुद्धम् बुद्धम् प्रियम् पूर्णम् निष्प्रपंचम् निरामयम् आत्मानम् न जानन्ति**= शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच तथा निरामय आत्मा को नहीं जानते।

कितने साधक पचास वर्ष से साधना में लगे हैं, परंतु उनसे पूछिए कि तुम कौन हो, तो इसका आध्यात्मिक उत्तर वे नहीं जानते।

ग्रंथकार कहते हैं कि पहले स्वयं को जानो कि तुम शुद्ध हो। तुम्हारे में जड़-जगत की मिलावट नहीं है। तुम बुद्ध हो, चेतन हो, ज्ञानस्वरूप हो। तुम प्रिय ही नहीं, प्रियतम हो। भला आत्मा से, स्वयं से प्यारा क्या होगा! तुम पूर्ण हो; अतएव अपने में अपूर्णता का भ्रम न करो। तुम अपने को विषयों से पूर्ण करने का भ्रम न पालो, और न किसी परोक्ष ईश्वर-ब्रह्म से। तुम स्वयं ब्रह्म हो, पूर्ण हो। तुम निष्प्रपंच हो। तुम्हारे में संसार-प्रपंच है ही नहीं। तुम निरामय हो, नीरोग हो, निर्विकार हो। अतएव जगत वासना छोड़कर शांत हो जाओ।

163. नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः॥ 36॥

न-आप्नोति, कर्मणा, मोक्षम्, विमूढः-अभ्यास-रूपिणा। धन्यः, विज्ञान-मात्रेण, मुक्तः-तिष्ठति-अविक्रियः।

स्वरूप ज्ञान-विहीन विमूढ़ मनुष्य को न तो कर्मकांड से मोक्ष मिलेगा और न केवल अनेक प्रकार के अभ्यास से। वे धन्य हैं जो स्वस्वरूप के यथार्थ ज्ञान मात्र से क्रियाहीन होकर मुक्तिदशा में स्थित हैं।

भाष्य—मुक्ति निष्क्रिय स्थिति है। मन, वाणी और इंद्रियों का व्यापार जब पूर्णतया बंद हो जाता है तब आत्मा अपने आप शांत हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए पहले अपने आत्मस्वरूप को समझना

चाहिए और पीछे साधना-अभ्यास से मनोनिग्रह करना चाहिए। अभ्यास करते-करते मन का मल कटता है और उत्कट वैराग्य उदय होने पर मन निष्क्रिय स्थिति में पहुंचता है। विज्ञान मात्र की स्थिति प्राप्त करने के लिए साधना-अभ्यास करना ही पड़ेगा।

164. मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक्॥ 37॥

मूढः, न-आप्नोति, तत्-ब्रह्म, यतः, भवितुम्-इच्छति। अन्-इच्छन्-अपि, धीरः, हि, पर-ब्रह्म, स्वरूप-भाक्।

स्वरूपज्ञान-विहीन मनुष्य साधना करते तथा ब्रह्म-प्राप्ति की इच्छा करते हुए भी उसे नहीं प्राप्त कर पाता। किंतु विवेकवान पुरुष कुछ प्राप्ति की इच्छा न करते हुए भी परब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

भाष्य—जिसे अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह मूढ़ है। वह, **तत् ब्रह्म भवितुम् इच्छति**= उस ब्रह्म को पाने की, ब्रह्मरूप होने की इच्छा करता है और उसके लिए, **यतः**= यत्न भी करता है, साधना करता है, परंतु वह उसे, **न-आप्नोति**= नहीं पाता है। क्योंकि उसे बोध नहीं है कि ब्रह्म बाहर नहीं, मेरा अस्तित्व है। **धीरः**= विवेकवान पुरुष, **अन्-इच्छन्-अपि**= बिना कुछ इच्छा किये, **परब्रह्म स्वरूप भाक्**= परब्रह्म स्वरूप हो जाते हैं। जिसने समझ लिया कि परब्रह्म, उच्चतम सत्ता मैं ही हूं, वह द्वैत को, अनात्म को छोड़कर अपने आपमें मस्त हो जाता है।

कुछ पाने की इच्छा ही दरिद्रता है। जब सारी इच्छाएं बुझ गयीं, तब स्वयं सर्वोच्च हो गया, ब्रह्म हो गया, श्रेष्ठ हो गया, तृप्त हो गया।

165. निराधाराग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः॥ 38॥

निराधार-आग्रह-व्यग्राः, मूढाः, संसार-पोषकाः। एतस्य-अनर्थ-मूलस्य, मूलच्छेदः, कृतः, बुधैः।

आत्मज्ञान-विहीन देहाभिमानी मनुष्य सांसारिक वासनाओं का पोषक होने से आधार-हीन आग्रह को पकड़कर दुखी रहता है। किंतु मोह से

जाग्रत संत द्वारा इस अविद्या रूपी अनर्थ की जड़ को काट कर समाप्त कर दिया गया रहता है।

भाष्य—संसार पोषकाः= मोह-माया का पोषण करने वाला, **मूढाः**= आत्मज्ञान-विहीन देहाभिमानी मनुष्य, **निराधार आग्रह व्यग्राः**= आधारहीन बात का हठ पकड़कर व्यग्र रहता है, मन से पीड़ित रहता है। किंतु, **बुधैः**= मोह से जगे हुए संत द्वारा, **एतस्य अनर्थ मूलस्य**= इसके अनर्थ की, अविद्या रूपी दुख की **मूलच्छेदः कृतः**= जड़ उखाड़ दिया गया रहता है।

देहाभिमानी मनुष्य विषयों में मोह करके अपने संसार का, बंधन का पोषण करता है। इसलिए वह व्यर्थ बातों का आग्रह करके निरंतर व्यग्र रहता है, मन से पीड़ित रहता है। इसके उलटे ज्ञानी संत यह समझते हैं कि दुख की जड़ अविद्या है, मोह है। अतएव वे उसे अपने मन से मूल सहित निकालकर सुखी हो जाते हैं।

166. न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वंविनिश्चत्य सर्वदा शान्तमानसः॥ 39॥

न, शान्तिम्, लभते, मूढः, यतः, शमितुम्-इच्छति। धीरः-तत्त्वम्-विनिश्चित्य, सर्वदा, शान्त-मानसः।

स्वरूपज्ञान-विहीन देहाभिमानी मनुष्य शांति पाने की इच्छा रखकर साधना करता है, परंतु शांति नहीं पाता; किंतु धीरवान संत आत्म-तत्त्व के निश्चय मात्र से सदैव शांत मन के रहते हैं।

भाष्य—मूढः= आत्मज्ञान विहीन देहाभिमानी मनुष्य, **यतः**= यत्न करते हुए, साधना करते हुए, **शमितुम् इच्छति**= शांति पाने की इच्छा रखता है, किंतु **शान्तिम् न लभते**= शांति नहीं पाता है। परंतु, **धीराः**= विवेकवान संत, **तत्त्वम् विनिश्चित्य**= आत्म तत्त्व के निश्चय द्वारा, **सर्वदा शान्त मानसः**= सदैव शांत मन के होते हैं।

ग्रंथकार का जोर है स्वरूपज्ञान पर। साधक स्वस्वरूप को समझे, फिर साधना भी करे।

167. क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।
धीरास्ते तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥ 40॥

क्व-आत्मनः, दर्शनम्, तस्य, यत्-दृष्टम्-अवलम्बते। धीराः-ते, तम्, न, पश्यन्ति, पश्यन्ति-आत्मानम्-अव्ययम्।

जो मनुष्य सांसारिक विषयों के मोह में डूबा है वह आत्मसाक्षात्कार कहां कर सकता है? जो विवेकवान धीर संत हैं वे उसको नहीं देखते, वे अपना लक्ष्य रखते हैं अविनाशी आत्मा पर।

भाष्य—यत्= जो मनुष्य, **दृष्टम् अवलंबते**= दृश्य पदार्थों का आलंबन पकड़ता है, सांसारिक वस्तुओं के मोह में डूबा है, **तस्य**= उसको, **क्व आत्मनः दर्शनम्**= कहां आत्मसाक्षात्कार होगा? **धीराः**= जो धैर्यवान संत हैं, **ते तम् न पश्यन्ति**= वे उसे नहीं देखते, जड़ दृश्यों का मोह नहीं करते, वे तो, **अव्ययम् आत्मानम् पश्यन्ति**= अविनाशी आत्मा को देखते हैं, अपना लक्ष्य आत्मा पर रखते हैं।

बहिर्मुख मनुष्य आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मशांति नहीं प्राप्त कर सकता। अथवा जो ज्योति, नाद, बिंदु, शब्द आदि जड़ का ही आलंबन लेकर साधना करता है, वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। आत्मसाक्षात्कार उसे होता है जो निरंतर आत्मरत होता है।

168. क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धे करोतिवै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः॥ 41॥

क्व, निरोधः, विमूढस्य, यः, निर्बन्धे, करोति-वै। स्वारामस्य-एव, धीरस्य, सर्वदा-असौ-अकृतमः।

वस्तुतः जो हठ पकड़ने वाला है वह आत्मबोध-विहीन मनुष्य कहां मन शांत कर सकता है? आत्माराम में रमने वाले विवेकवान संत के लिए मन का शांत रहना सर्वदा सहज है।

भाष्य—वै= वस्तुतः, **यः**= जो मनुष्य, **निर्बन्धे करोति**= दुराग्रह एवं हठ करता है, **विमूढस्य क्व निरोधः**= उस आत्मबोध-विहीन मनुष्य का चित्त कहां शांत होगा? **स्वारामस्य धीरस्य**= आत्माराम विवेकवान संत के लिए, **सर्वदा असौ अकृतमः**= मन का शांत रहना सर्वदा स्वाभाविक है।

निर्बंधे करोति=हठ करता है। आत्मबोध-विहीन साधक हठपूर्वक अनेक साधना करते हैं, परंतु उससे उनको शांति नहीं मिलती। धीर पुरुष, आत्मबोध प्राप्त संत स्वात्माराम होते हैं, सदैव आत्मभाव में रमने वाले होते हैं, अतएव उनकी शांति सदैव अकृत्रिम-स्वाभाविक होती है। अतएव स्वरूपबोधपूर्वक साधना आवश्यक है।

169. भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः॥ 42॥

भावस्य, भावकः, कश्चित्-न, किंचित्-भावकः-अपरः। उभय-अभावकः, कश्चित्-एवम्-एव, निराकुलः।

कोई मानता है कि जगत का अस्तित्व है और कोई मानता है कि जगत का अस्तित्व नहीं है। कोई इन दोनों विवादों में न पड़कर अपने आपमें ही शांत रहता है।

भाष्य—**कश्चित्**=कोई, **भावस्य**=अस्तित्व की, जगत की सत्ता, **भावकः**=मानने वाला है। **अपरः कश्चित्**=दूसरा कोई, **न किंचित् भावकः**=कुछ नहीं मानता है। **कश्चित्**=कोई, **उभय अभावकः**=दोनों न मानकर, **एवम् एव**=यों ही, **निराकुलः**=उद्वेग-रहित, शांत रहता है।

जगत है भी, और नहीं भी है। जगत जगत में बदलता हुआ नित्य है, किंतु आत्मा में जगत कभी नहीं है। यही सत्य तथ्य है, और इसी बोध में शांति है।

170. शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः॥ 43॥

शुद्धम्-अद्वयम्-आत्मानम्, भावयन्ति, कुबुद्धयः। न, तु, जानन्ति, संमोहात्-यावत्-जीवम्-अनिर्वृताः।

उलटी बुद्धि का मनुष्य भी यह मानता है कि मैं शुद्ध, अद्वय आत्मा हूं, परंतु वह विषयों के मोह में डूबा रहने से उसकी वास्तविकता का अनुभव नहीं करता। इसलिए वह जीवनपर्यंत अशांत रहता है।

भाष्य—कितने ज्ञानी कहलाने वाले मानते और कहते रहते हैं कि मैं

शुद्ध अद्वैत असंग आत्मा हूं। परंतु वे विषयों का मोह नहीं छोड़ पाते, भोग और प्रतिष्ठा में उनका मन बंधा हुआ मूढ़ बना रहता है, इसलिए वे, **यावत् जीवम् अनिर्वृताः**= जीवनपर्यंत अपूर्ण, असंतुष्ट एवं अशांत रहते हैं।

171. मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा॥ 44॥

मुमुक्षोः-बुद्धिः-आलम्बम्-अन्तरेण, न, विद्यते। निरालम्ब-एव, निष्कामा, बुद्धिः-मुक्तस्य, सर्वदा।

मुमुक्षु की बुद्धि बिना सहारा के नहीं स्थिर रहती, किंतु जीवन्मुक्त की बुद्धि निष्काम होने से सदैव बिना सहारा के शांत रहती है।

भाष्य—यह स्वाभाविक बात है। मुमुक्षु वह है जो मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा वाला है और मुक्त वह है जो जीवन्मुक्त है, सब कुछ से निष्काम है। अतएव मुमुक्षु साधक किसी शुद्ध आधार में मन को ठहराता है; किंतु पूर्ण निष्काम जीवन्मुक्त अपने आप शांत रहता है—निरंतर आत्माराम। मुमुक्षु भी जब जीवन्मुक्त हो जायेगा, तब वह भी आत्माराम हो जायेगा—सब समय आत्मा में रमने वाला।

172. विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये॥ 45॥

विषय-द्वीपिनः, वीक्ष्य, चकिताः, शरणार्थिनः। विशन्ति, झटिति, क्रोडम्, निरोध-एकाग्र-सिद्धये।

विषयरूपी सिंह को देखकर भयभीत हुआ शरणार्थी चित्त के निरोध तथा एकाग्रता के लिए झट से ध्यान रूपी गुफा में घुसता है।

भाष्य—**विषय द्वीपिनः**= विषयरूपी सिंह को, **वीक्ष्य**= देखकर, **चकिताः शरणार्थिनः**= भयभीत शरणार्थी, **निरोध-एकाग्र सिद्धये**= चित्त के निरोध तथा एकाग्रता की सिद्धि के लिए, **झटिति**= झट से, **क्रोडम् विशन्ति**= गुफा में घुसते हैं, ध्यान-समाधि में घुसते हैं।

द्वीपिन सिंह, शेर, चीता को कहते हैं। साधारण साधक विषयरूपी सिंह को देखकर साधना की गुफा में छिपना चाहता है, परंतु—

173. निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥ 46 ॥

निर्वासनम्, हरिम्, दृष्ट्वा, तूष्णीम्, विषय-दन्तिनः । पलायन्ते, न, शक्ताः-ते, सेवन्ते, कृत-चाटवः ।

वासना-हीन ज्ञानी रूपी सिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग खड़े होते हैं। उनमें सामने आने की शक्ति नहीं रह जाती, अपितु वे उलटकर चाटुकार बन कर ज्ञानी की सेवा करते हैं।

भाष्य—निर्वासनम्= वासना-हीन ज्ञानीरूपी, **हरिम् दृष्ट्वा**= सिंह को देखकर, **विषय-दन्तिनः**= विषयरूपी हाथी, **तूष्णीम् पलायन्ते**= चुपचाप भाग खड़े होते हैं। **न शक्ताः**= उनमें सामने आने की शक्ति नहीं रह जाती। **ते**= विषय रूपी हाथी, **सेवन्ते कृत चाटवः**= चाटुकार बनकर ज्ञानी की सेवा करते हैं, जीवन-निर्वाह में सहयोग करते हैं।

वासना-हीन विवेकी संत के सामने विषय कूड़ा-कचड़ा हो जाता है। अपितु संसार के पदार्थों का शरीर-निर्वाह में उपयोग कर ज्ञानी जीवन्मुक्ति-यात्रा पूरा करता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोकों में अलंकारपूर्वक कथन करके जो बताया गया है स्पष्ट है कि प्रयत्नपूर्वक साधना करने वाले निम्न स्तर के हैं, और सहज पूर्ण वैराग्यवान उच्चतम हैं। परंतु प्रयत्नपूर्वक साधना करने वाले तुच्छ नहीं हैं। प्रयत्नपूर्वक साधना करते-करते सिद्धि एवं परिपक्व दशा प्राप्त होती है जिसमें सब समय सहज समाधि रहती है। इसलिए साधक सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि में निरंतर लगे रहें।

174. न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नान्नास्ते यथासुखम् ॥ 47 ॥

न, मुक्ति-कारिकाम्, धत्ते, निःशंकाः, युक्त-मानसः । पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-आस्ते, यथा-सुखम् ।

संशय-रहित प्रशांत मन वाला विवेकवान पुरुष मुक्तिकारक यम-नियमादि साधनों को आग्रहपूर्वक नहीं धारण करता; अपितु वह देखते हुए,

सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूघंते हुए तथा खाते हुए सभी दशाओं में सुखपूर्वक रहता है।

भाष्य—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि अष्टांगयोग जो मुक्तिकारक, मुक्ति में कारण स्वरूप हैं, उन्हें संशय-रहित परम वैराग्यवान आत्माराम ज्ञानी प्रयत्नपूर्वक, **न धत्ते**= नहीं धारण करता। उसके जीवन में तो ये अपने आप समाहित होते हैं। उसके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सद्‌गुण स्वाभाविक रहते हैं। उसका मन हर समय समाधिस्थ रहता है। वह जीवन-यात्रा में यथावत शुद्ध व्यवहार करते हुए हर क्षण मुक्त रहता है।

सावधान! साधारण साधक उसकी नकल न करके प्रयत्नपूर्वक मुक्ति कारक साधनों को धारण करें।

175. स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्ययात्परमम् पदम्॥ 50॥

स्वातंत्र्यात्-सुखम्-आप्नोति, स्वातंत्र्यात्-लभते, परम्। स्वातंत्र्यात्-निर्वृतिम्, गच्छेत्, स्वातंत्र्यात्-परमम्, पदम्।

राग-द्वेष-विहीन चित्त स्वतंत्र होता है, उसी से सुख प्राप्त होता है, परम लाभ—शांति प्राप्त होती है, पूर्णता प्राप्ति होती है, और परमपद—मोक्ष प्राप्त होता है।

भाष्य—उच्छृंखलता स्वतंत्रता नहीं है, अपितु चित्त की सभी ग्रंथियों के नष्ट हो जाने पर जब पूर्णतया राग-द्वेष-विहीन मन हो जाता है तब परम शांति मिलती है जो पूर्णता है, परम पद है और मोक्ष है।

176. अकर्तृत्वमभोगतृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदाक्षीणाभवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः॥ 51॥

अकर्तृत्वम्-अभोगतृत्वम्, स्वात्मनः, मन्यते, यदा। तदा, क्षीणाः-भवन्ति-एव, समस्ताः-चित्तवृत्तयः।

जब ज्ञानी अपने को मान लेता है कि मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूं, तब उसके चित्त की सभी वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं।

भाष्य—आत्मा शुद्ध एवं असंग है। उसके स्वरूप में न कर्तापन है और न भोक्तापन है। कर्ता-भोक्ता तो वह देहोपाधि से बनता है। जब साधक को यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि मैं देह नहीं हूं और देह मेरी नहीं है, तब वह कर्ता-भोक्ता भाव से मुक्त हो जाता है। अतएव तब उसकी मनोवृत्ति स्वाभाविक शांत रहती है।

177. श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदिवासना॥ 54॥

श्रोत्रियम्, देवताम्, तीर्थम्-अंगनाम्, भूपतिम्, प्रियम्। दृष्ट्वा, सम्पूज्य, धीरस्य, न, का-अपि, हृदि-वासना।

संपूज्य विद्वान, देवमूर्ति, तीर्थ, सुंदरी युवती, राजा और प्रियजनों को देखकर धीरवान शांतात्मा को कोई वासना नहीं उदय होती।

भाष्य—संसार के सारे दृश्य, प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का सारा मेला क्षणिक है, अनात्म है। हमारे साथ कुछ रहने वाला नहीं है। यह सब सुषुप्ति में ही खो जाता है। मन-इंद्रियों के कारण हमारा संसार का संबंध है। शरीर छूटते ही संसार हमारे लिए गायब है। फिर ऐसे स्वप्नवत् संसार के लिए क्या वासना!

178. भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्॥ 55॥

भृत्यैः, पुत्रैः, कलत्रैः-च, दौहित्रैः-च-अपि, गोत्रजैः। विहस्य, धिक्कृतः, योगी, न, याति, विकृतिम्, मनाक्।

नौकर, पुत्र, पत्नी, नाती तथा अपने ही गोत्र में उत्पन्न लोगों द्वारा मजाक उड़ाये जाने और धिक्कारे जाने पर भी योगी के मन में थोड़ा भी विकार नहीं उत्पन्न होता।

भाष्य—दूसरा गाली देता है तो कम खलता है, परंतु अपने साथी तथा अनुगामी जब गाली देते हैं तब अधिक खलता है। पूर्ण विवेक उदय होने पर किसी के भी द्वारा निंदा-अपमान पाकर ज्ञानी के मन में, **मनाक्**= थोड़ा भी, **विकृतिम् न याति**= विकार नहीं आता।

179. सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिन्नते।
तस्याश्चर्यदशां तांतां तादृशा एव जानते॥ 56॥

सन्तुष्टः–अपि, न, सन्तुष्टः, खिन्नः–अपि, न, च, खिन्नते। तस्य–आश्चर्य–दशाम्, ताम्–ताम्, ता–दृशा, एव, जानते।

बोधवान संतुष्ट दिखते हुए संतुष्ट नहीं होते और खिन्न दिखते हुए भी खिन्न नहीं होते। उनकी आश्चर्यमय दशा वही ठीक से जान सकता है, जो उनके समान अंतर्मुख की स्थिति वाला है।

भाष्य—संतोष–असंतोष दृश्य पदार्थों को लेकर होता है और बोधवान दृश्य पदार्थों के मोह से ऊपर होते हैं। अतएव यदि उनका कहीं व्यवहार को लेकर संतुष्ट–असंतुष्ट होना दिखे तो वह क्षणिक है। बोधवान के मन में कोई ग्रंथि नहीं होती। उनकी दृष्टि पदार्थ–पार होती है।

180. कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयः॥ 57॥

कर्तव्यता–एव, संसारः, न, ताम्, पश्यन्ति, सूरयः। शून्याकारा, निराकारा, निर्विकारा, निरामयः।

कर्तव्यता ही संसार है। बोधवान पुरुष संसार में अपना कोई कर्तव्य नहीं देखता। वह तो आकार–शून्य, रूप–विहीन, निर्मल, नीरोग स्व–स्वरूप पर लक्ष्य रखता है।

भाष्य—**कर्तव्यता एव संसारः**= कर्तव्य बोध होना ही संसार है। कुछ करने के मूल में कुछ पाने की इच्छा होती है। यही संसार में फंसना है। जिसे कुछ पाने की इच्छा नहीं, उसे कुछ करने की इच्छा नहीं। वही मुक्त है। **सूरयः**= ज्ञानी एवं बोधवान पुरुष जिनकी सारी कामनाएं बुझ गयी हैं, उनको न जानना रहा, न पाना रहा, अतएव न कुछ करना रहा। केवल प्रारब्ध–यात्रा पूर्ण करने के लिए वे देह–व्यवहार करते हैं और जो बन सके, दूसरे के कल्याण के लिए हितोपदेश करते हैं।

181. अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढ़धी।

कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥ 58॥

अ-कुर्वन्-अपि, संक्षोभात्-व्यग्रः, सर्वत्र, मूढ-धीः। कुर्वन्-अपि, तु, कृत्यानि, कुशलः, हि, निराकुलः।

देहाभिमानी मनुष्य कुछ न करते हुए भी मन के संकल्प-विकल्पों के कारण क्षुब्ध होने से सब जगह और सब समय उद्वेगित और पीड़ित रहता है, परंतु बोधवान पुरुष कर्म करते हुए भी प्रशांत रहते हैं।

भाष्य—**मूढ धीः**= मूर्ख बुद्धि-देहाभिमानी मनुष्य, **अ-कुर्वन्-अपि**= कुछ न करते हुए भी, **संक्षोभात्**= क्षुब्ध होने से, **सर्वत्र व्यग्रः**= सब समय दुखी रहता है; **तु**= परंतु, **कुशलः**= बोधवान संत, **कृत्यानि कुर्वन् अपि**= कर्म करते हुए भी, **निराकुलः हि**= प्रशांत ही रहते हैं।

इसके पहले श्लोक में कहा गया था कि **कर्तव्यता एव संसारः**—कर्म ही संसार है। परंतु इस श्लोक में कहा गया कि यह मत समझ लेना कि हाथ-पैर बटोरकर बैठ जाना, कर्महीन हो जाना मोक्ष है। मन में अहंता-ममता और कामनाएं हैं तो कर्महीन होकर मन उद्वेगित ही रहेगा। वह सब समय सब जगह मन से जलता ही रहेगा। परंतु जो पूर्ण निष्काम, निर्मान एवं ममता-शून्य है वह उचित कर्म करते हुए भी प्रशांत रहेगा।

कुशलः हि निराकुलः= कुशल व्यक्ति निराकुल ही रहता है। कुशल वह है जो सब समय प्रसन्न रहे। सब समय वही प्रसन्न रहेगा जिसका मन पूर्ण निर्मल है और वह कर्म करते हुए **निर-आकुल** आकुलता-व्याकुलता-विहीन प्रशांत रहेगा।

182. सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपिशान्तधी॥ 59॥

सुखम्-आस्ते, सुखम्, शेते, सुखम्-आयाति, याति, च। सुखम्, वक्ति, सुखम्, भुंक्ते, व्यवहारे-अपि-शान्त-धी।

बोधवान संत सुख से बैठता है, सुख से सोता है, सुख से आता है, सुख से जाता है, सुख से बोलता है, सुख से खाता है और प्राणी-पदार्थों के व्यवहार काल में भी शांतबुद्धि एवं उद्वेगशून्य रहता है।

भाष्य—स्वरूपबोध में स्थित मनुष्य का मन पूर्ण निर्मल होता है,

अतएव उसका पूरा जीवन सुख से पूर्ण होता है। सारा दुख मन के विकार से आता है। जब मन निर्विकार हो गया, तब दुख रह ही नहीं गया।

183. स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः स शोभते॥ 60॥

स्वभावात्-अस्य, न-एव-आर्तिः-लोकवत-व्यवहारिणः। महा-ह्रदः, इव-अक्षोभ्यः, गत-क्लेशः, स, शोभते।

बोधवान मनुष्य व्यवहार करते हुए भी संसारी मनुष्यों की भांति स्वभाव से ही दुखी नहीं होता। वह गहरे सरोवर की तरह क्षोभ-रहित तथा क्लेश-मुक्त होकर संसार में शोभा पाता है।

भाष्य—बोधवान संत, **व्यवहारिणः**= व्यवहार करते हुए भी, **लोकवत्**= संसारी मनुष्यों की तरह, **स्वभावात् अस्य न एव आर्तिः**= स्वभाव से ही दुखी नहीं होता। **सः**= वह, **महा ह्रदः इव**= गहरे सरोवर की भांति **अक्षोभ्यः**= उद्वेगशून्य तथा, **गतक्लेशः**= दुख-रहित होकर **शोभते**= संसार में शोभा पाता है।

बोधवान संत स्वाभाविक रूप से सब समय क्लेश-रहित मन वाला होता है। वह व्यवहार करता है, किंतु गहरे सरोवर की तरह क्षोभ-रहित रहता है। सब समय सुखी, तृप्त, संतुष्ट एवं शांत रहना ही ज्ञान तथा साधना का फल है।

184. निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥ 61॥

निवृत्तिः-अपि, मूढस्य, प्रवृत्तिः-उपजायते। प्रवृत्तिः-अपि, धीरस्य, निवृत्ति-फल-भागिनी।

बोधहीन देहाभिमानी की निवृत्ति भी प्रवृत्ति रूप बंधन बनाती है, और धीरवान विवेकी की कर्मों में प्रवृत्ति भी निवृत्ति फल देने वाली होती है।

भाष्य—बोधहीन मनुष्य हाथ-पैर बटोर कर बैठ जाय और निवृत्ति का ढोंग करे तो इससे वह निवृत्त नहीं होगा; क्योंकि उसके मन में इच्छा, वासना, अहंकार, तृष्णा आदि मनोविकार भरे हैं। वे उसे दुखी बनाये

रखेंगे। वे वासनाएं समय से उसे किसी गहरे गड्ढे में डालेंगी। किंतु निष्काम मनुष्य अहंता-ममता त्यागकर सेवा कार्य करता रहेगा, परंतु उसका मन प्रसन्न रहेगा। जो निर्मल-हृदय है, वह चुप बैठे, तो शांत रहेगा और कर्म करे तो शांत रहेगा। बोधवान निर्मल मन वाले मनुष्य के लिए कभी बंधन एवं दुख नहीं है।

185. परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व राग: क्व विरागिता॥ 62॥

परिग्रहेषु, वैराग्यम्, प्राय:, मूढस्य, दृश्यते। देहे, विगलित-आशस्य, क्व, राग:, क्व, विरागिता।

देहाभिमानी मनुष्य ही प्राय: वैराग्य की डींग हांकता है। जिसके मन की सारी आशाएं शरीर में ही गल गयी हैं, उसके लिए राग कहां और वैराग्य कहां?

भाष्य—वैराग्य होना ठीक है, किंतु वैराग्य का अहंकार राग को ही उजागर करता है। जिसके मन का राग नष्ट हो गया और संसार की सारी आशाएं समाप्त हो गयीं, उसका वैराग्य तो उसके जीवन में पचकर जीवन्मुक्ति दशा हो गयी। उसको वैराग्य का अहंकार नहीं होता।

186. भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टरूपिणी॥ 63॥

भावना-अभावना-सक्ता, दृष्टि:-मूढस्य, सर्वदा। भाव्य-भावनया, सा, तु, स्वस्थस्य-अदृष्ट-रूपिणी।

बोध-हीन मनुष्य की दृष्टि सदैव भावना-अभावना में डूबी रहती है, परंतु स्वस्थ चित्त शांतात्मा की दृष्टि होने योग्य और वर्तमान से ऊपर रहती है। वह दूसरे के लिए गम्य नहीं।

भाष्य—अज्ञानी मनुष्य **भावना-अभावना**= होने-न-होने के संकल्प-विकल्प में पड़ा रहता है, इसलिए दुखी रहता है। परंतु स्वस्थ चित्त का ज्ञानी **भाव्य**= होने योग्य, और, **भावनया**= वर्तमान की चिंता से दूर रहता है। उसकी स्थिति, **अदृष्ट रूपिणी**= न दिखायी देने वाली होती है।

होने न होने के चक्कर में सामान्य मनुष्य का मन उलझा रहता है। विवेकवान इसकी चिंता नहीं करता। वह केवल अपना कर्तव्य-कर्म पालन करता है और निर्विकल्प मन का होता है। यह उसकी दशा अदृष्ट रूपिणी है। देखने की वस्तु नहीं है। वैसे ही निश्‍चित होकर उसका अनुभव किया जा सकता है।

187. सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्‌बालवन्मुनिः।
नलेपस्तस्यशुद्धस्य क्रियमाणेऽपिकर्मणि॥ 64॥

सर्व-आरम्भेषु, निष्कामः, यः-चरेत्-बालवत्-मुनिः। न-लेपः-तस्य-शुद्धस्य, क्रियमाणे-अपि-कर्मणि।

जो सभी कर्मों के संकल्प से निष्काम है वह मननशील ज्ञानी बालवत सरल हृदय होकर जीवन का व्यवहार करता है, उस शुद्ध स्वरूप ज्ञानी द्वारा किये गये कर्म उसे बंधन नहीं बनते।

भाष्य—जो सभी कर्मों, भोगों, प्रतिष्ठाओं से निष्काम है, अंतर्मुख है, बालक के समान सरल चित्त है, वह निर्वाह के लिए या लोक-मंगल के लिए जो कुछ कर्म करता है, वह उसे लिपायमान नहीं करते; क्योंकि वह अहंता-ममता-हीन शुद्ध अंतःकरणवाला है।

188. स एव धन्यः आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्‍नन्निस्तर्षमानसः॥ 65॥

स, एव, धन्यः, आत्मज्ञः, सर्वभावेषु, यः, समः। पश्यन्-श्रृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्‍नन्-निस्तर्ष-मानसः।

वह आत्मज्ञानी धन्य है, जो सभी स्थितियों में समान भाव रखता है। वह देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए, खाते हुए तृष्णा-रहित मनवाला है।

भाष्य—निष्काम महात्मा भी जब तक शरीर में है तब तक उसे भी खाना-पीना, देखना-सुनना, छूना-सूंघना तथा शरीर की क्रियाएं करना पड़ता है। परंतु वह सभी स्थितियों में समता रखता है, तृष्णा-रहित होता है। तर्ष का अर्थ होता है कामना, इच्छा, तृष्णा। ज्ञानी निस्तर्ष होता है,

कामनाहीन एवं तृष्णारहित होता है।

189. क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥ 66॥

क्व, संसारः, क्व, च-आभासः, क्व, साध्यम्, क्व, च, साधनम्। आकाशस्य-एव, धीरस्य, निर्विकल्पस्य, सर्वदा।

जो धीरवान आकाश के समान सदैव निर्मल मन का और निर्विकल्प दशा में रहता है, उसके लिए कहां संसार है, कहां उसका प्रतीत है, कहां साध्य है और कहां साधन है?

भाष्य—जिसका मन निरंतर निर्मल है और संकल्प-विकल्प द्वंद्व से मुक्त है, उसका सब काम पूरा है। संसार तथा उसका स्मरण उसे विचलित नहीं कर सकते, इसलिए अब अलग साध्य नहीं रहा और साधन नहीं रहे। सब काम पूरा है।

190. स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते॥ 67॥

स, जयति-अर्थ-संन्यासी, पूर्ण-स्व-रस-विग्रहः। अकृत्रिमः-अनवच्छिन्ने, समाधिः-यस्य, वर्तते।

उसी की विजय है जो प्रयोजन का त्यागी है, पूर्ण आत्म-आनंद की मूर्ति है और जिसकी सहज समाधि सब समय लगी रहती है।

भाष्य—**स जयति**= उसी की विजय है, जो, **अर्थ-संन्यासी**= लोक-परलोक के भोगों का, उनके प्रयोजनों का त्यागी है, **पूर्ण स्व-रस विग्रहः**= पूर्ण आत्म-आनंद की मूर्ति है और, **यस्य अकृत्रिमः अनवच्छिन्ने समाधिः वर्तते**= जिसकी अकृत्रिम समाधि निरंतर लगी रहती है।

अर्थ-संन्यासी= प्रयोजन का त्यागी। जीवन व्यतीत करने के लिए जल, भोजन, वस्त्र, आवासादि तो चाहिए। वस्तुतः ज्ञानी को लोक-परलोक के किसी भोग की कामना नहीं रह जाती। जीवन-निर्वाह तो सबको लेना पड़ता है, वह विवशता है। अर्थ-संन्यासी का अर्थ है प्रयोजन-त्यागी। इसका स्पष्टीकरण है भोग-प्रतिष्ठा की इच्छा का त्यागी।

वह पूर्ण स्व-रस-विग्रह होता है—स्वयं रस की मूर्ति, आत्म-आनंद की मूर्ति और उसमें लगा है पूर्ण। पूर्ण आत्म-आनंद स्वरूप, सर्वथा दुखहीन।

उसकी अकृत्रिम अनवच्छिन्न समाधि रहती है। अकृत्रिम समाधि है बिना दिखावा के बिना प्रयत्न के सहज समाधि और वह अनवच्छिन्न, निरंतर। निरंतर सहज समाधि। सद्गुरु कबीर ने कहा है—संतो, सहज समाधि भली।.......ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी।

जिसका मन संकल्प-विकल्प के द्वंद्व से रहित, उद्वेग-शून्य है, उसकी निरंतर सहज समाधि है। वही विश्व विजयी है।

191. बहुनात्र किमुक्ते न ज्ञातत्त्वो महाशयः।
भागमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥ 68॥

बहुना-अत्र, किम्-उक्तेन, ज्ञात-तत्त्व, महाशयः। भोग-मोक्ष-निराकांक्षी, सदा, सर्वत्र-नीरसः।

बहुत यहां क्या कहना! आत्मतत्त्व का ज्ञाता आत्मविश्राम में निमग्न बोधवान संत भोग और मोक्ष की आकांक्षा न रखने वाला सब समय तथा सब जगह आसक्ति-रहित होता है।

भाष्य—ज्ञानी जीवन्मुक्त के अनेक लक्षण होते हैं। किंतु यहां वह सब बहुत क्या कहना। यहां इतना ही कहना है कि जो अपने आत्मस्वरूप को ठीक से जान गया है, वह महा-आशय—महाविश्राम पा जाता है। उसका मन द्वंद्वातीत हो जाता है। वह सर्वत्र और सब समय नीरस रहता है। वह अपना मन किसी प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति में नहीं लगाता है। अतएव वह भोगों की आकांक्षा से मुक्त है ही, उसे मुक्ति की आकांक्षा भी नहीं है, क्योंकि वह मुक्त ही है। जो सदा मुक्ति में विराजता है उसे अब मुक्ति की कैसी इच्छा रह जायेगी।

192. महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते॥ 69॥

महत्-आदि, जगत्-द्वैतम्, नाम-मात्र-विजृम्भितम्। विहाय, शुद्ध-

बोधस्य, किम्, कृत्यम्-अवशिष्यते।

महत् तत्त्व से लेकर स्थूल जगत नाम-रूप मात्र का विस्तार है। इसकी आसक्ति त्याग देने के बाद शुद्ध आत्म-स्वरूप के बोधवान पुरुष को क्या करना शेष रह जाता है?

भाष्य—सांख्य-दर्शन के सृष्टिक्रम को सभी पौराणिकों ने लिया है और अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वेदांतियों ने भी अपने ढंग से यदा-कदा लिया है।

सत, रज तथा तम तीन प्रसिद्ध गुण हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार इनमें द्वंद्व होने से महतत्त्व की उत्पत्ति होती है जिसे महान बुद्धि भी कहते हैं। महतत्त्व से अहंकार पैदा होता है। सत गुण युक्त अहंकार से ग्यारह इंद्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ, चाम, हाथ, पैर, मुख, गुदा, लिंग और मन पैदा होते हैं। तम गुण संयुक्त अहंकार से पांच तन्मात्राएं एवं विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पैदा होते हैं। रजोगुण इन सबके पैदा होने में सहायक होता है। फिर पांच तन्मात्राओं से पांच भूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पैदा होते हैं। इस प्रकार तीनों गुणों की साम्य अवस्था प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, मन, दस इंद्रियां, पांच विषय और पांच तत्त्व—ये चौबीस तत्त्व हैं और पचीसवां नाना चेतन पुरुष हैं। इस प्रकार सांख्य-दर्शन के पचीस तत्त्व प्रसिद्ध हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि महतत्त्व से लेकर पृथ्वी तक अर्थात सूक्ष्म कारण जड़ तत्त्व से लेकर समस्त स्थूल जड़ कार्य पदार्थ जगत है, द्वैत है, आत्मा से अलग है। वह नाम मात्र **विजृम्भितम्**= फैला है, विस्तृत है। जो कुछ दृश्य है, नाम-रूपात्मक है और अनात्म है।

जब ज्ञानी उसको, **विहाय**= त्याग देता है, सारे अनात्म प्रपंच का मोह छोड़ देता है, तब उस, **शुद्ध बोधस्य**= शुद्ध आत्मस्वरूप के बोधवान को, **किम् कृत्यम् अवशिष्यते**= क्या करना शेष रहता है? अर्थात कुछ करना शेष नहीं रहता।

खास बात है कि शुद्ध बोधात्मा ज्ञानी सूक्ष्म से लेकर स्थूल जगत का मोह सर्वथा छोड़ देता है, तब उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। वह अपने आप में शांत रहता है।

193. भ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति॥ 70॥

भ्रमभूतम्-इदम्, सर्वम्, किंचित्-न-अस्ति-इति, निश्चयी। अलक्ष्य-स्फुरणः, शुद्धः, स्वभावेन-एव, शाम्यति।

जिनको यह निश्चय है कि यह सारा दृश्य प्रपंच जगत भ्रम मात्र है, यह कुछ भी नहीं है और जो दृश्यातीत अदृश्य शुद्ध आत्मा का स्मरण रखता है, वह स्वभाव से ही शांत हो जाता है।

भाष्य—दृश्य प्रवहमान जगत अपने आप में नित्य होते हुए भी हमें केवल मन-इंद्रियों द्वारा ही प्रतीत होता है। उसका और मुझ चेतन आत्मा का स्थिर संबंध नहीं है। अतएव मेरे लिए वह अंततः कुछ भी नहीं है, ऐसा जिसे निश्चय है और अपने शुद्ध **अलक्ष्य**=निर्मल अदृश्य आत्मा का **स्फुरणः**=स्मरण करता है, सदैव स्वरूपभाव में ही रहता है, वह **स्वभावेन शाम्यति**=स्वभाव से ही, सहज ही शांत होता है।

194. स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता॥ 72॥

स्फुरतः-अनन्तरूपेण, प्रकृतिम्, च, न, पश्यतः। क्व, बन्धः, क्व, च, वा, मोक्षः, क्व, हर्षः, क्व, विषादिता।

बोधवान अपने अनंत-शाश्वत स्वरूप का स्मरण करता है। वह जड़-प्रकृति तथा प्रपंच की ओर अपना लक्ष्य नहीं रखता। फिर ऐसे बोधवान को कहां बंधन है, कहां मोक्ष लेना शेष है, कहां हर्ष है और कहां शोक है?

भाष्य—जो बोधवान सदैव अपने शाश्वत स्वरूप के भाव में, स्थिति में निमग्न है और दृश्य-प्रपंच की तरफ से पूर्ण अनासक्त है, उसका बंधन समाप्त है। वह मुक्त है। इसलिए अब उसे जब बंधन ही नहीं है, तब मुक्ति लेना बाकी कहां है। ऐसे मुक्तात्मा को हर्ष-शोक कहां?

195. बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहंकारो निष्काम शोभते बुधः॥ 73॥

बुद्धि-पर्यन्त-संसारे, माया-मात्रम्, विवर्तते। निर्ममः, निरहंकारः,

निष्कामः, शोभते, बुधः।

स्थूल जगत-प्रपंच से लेकर बुद्धिपर्यंत दिखावा मात्र, परिवर्तनशील और आभास मात्र है। जो इस नटखट संसार के मोह से जग गया है, वह सारे जड़-दृश्यों से ममता-रहित, निर्मान तथा निष्काम होकर जीवन्मुक्ति दशा में शोभायमान होता है।

भाष्य—देह से लेकर पूरा संसार परिवर्तनशील, क्षणभंगुर और सदैव के लिए छूट जाने वाला है। बुद्धिपर्यंत का तात्पर्य है बुद्धि तक। इसका स्पष्टीकरण है कि बाहर-स्थूल जगत है और शरीर के भीतर मनोमय जगत है, तो बाह्य स्थूल जगत से लेकर भीतर मनोमय जगत तक **मायामात्रम्**= दिखावा मात्र है। इसका हमारा स्थिर संबंध नहीं है। यह स्थूल-सूक्ष्म जगत विवर्त-चक्करदार, परिवर्तनशील, घूमने वाला, प्रवहमान है। इसमें कुछ पकड़ में आने वाला नहीं है। इसलिए बोधवान स्थूल-सूक्ष्म जगत का मोह त्यागकर ममता-हीन, अहंकार शून्य और निष्काम होकर रहते हैं और जगत में पूज्य होते हैं।

196. अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा॥ 74॥

अक्षयम्, गत-सन्तापम्-आत्मानम्, पश्यतः, मुनेः। क्व, विद्या, क्व, च, वा, विश्वम्, क्व, देहः-अहम्, ममेति, वा।

अंतर्मुख संत अक्षय तथा पीड़ा-रहित आत्मा को देखते हैं। उनके लिए विद्या कहां, संसार कहां और देह में अहंता-ममता कहां?

भाष्य—आत्मा निज स्वरूप चेतन है। वह अदृश्य है। उसे देखा नहीं जा सकता है। वह तो मैं ही हूं। उसको देखने की बात लाक्षणिक है। इसका स्पष्टीकरण है, आत्मभाव में रहना, सदैव आत्मा का ही स्मरण रहना कि मैं अविनाशी तथा दुख-विहीन आत्मा हूं। इस प्रकार जो यह हर समय समझता है कि मैं दुखपूर्ण अनात्म शरीर नहीं हूं, अपितु अविनाशी और संताप-रहित शुद्ध चेतन हूं, उसके लिए कौन विद्या पढ़ना रहा, और उसे संसार तथा देह में अहंता-ममता कहां?

अक्षयम् गतसन्तापम् आत्मानम् पश्यतः मुने—बड़ा महत्त्वपूर्ण कथन है। मुनि सदैव संताप-रहित अक्षय आत्मा पर ध्यान रखता है, इसलिए वह

सदैव संताप-रहित रहता है।

197. निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान्प्रलापांश्चकर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्॥ 75॥

निरोध-आदीनि, कर्माणि, जहाति, जड़-धीः-यदि। मनोरथान्-प्रलापान्-च-कर्तुम्-आप्नोति, तत्क्षणात्।

जड़-बुद्धि देहाभिमानी साधक जब चित्त-निरोध एवं ध्यान आदि साधना-कर्म से अलग होकर व्यवहार में आता है, तो तुरंत सांसारिक कामनाओं को लेकर संकल्प-विकल्प और कलह करने लगता है।

भाष्य—जब तक ठीक से स्वरूपबोध नहीं होता और देहाभिमान दूर नहीं होता तब तक साधक अनेक कर्मकांड और ध्यानादि करते हुए भी मन के उद्वेगों से मुक्त नहीं होता। यह भी सच है कि सेवा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान आदि करते-करते देहाभिमान नष्ट होता है, तब मन के उद्वेग एवं संकल्प-विकल्प और वाद-विवाद शांत होते हैं। बोध का तात्पर्य है सांसारिक कामनाओं का गल जाना और इसका फल है कलह-कल्पना से मुक्त होकर शांत हो जाना।

198. मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः॥ 76॥

मन्दः, श्रुत्वा-अपि, तत्-वस्तु, न, जहाति, विमूढताम्। निर्विकल्पः, बहिः-यत्नात्-अन्तः-विषय-लालसः।

देहाभिमानी जड़बुद्धि का मनुष्य आत्म-तत्त्व को सुनकर तथा जानकर भी भोगबुद्धि रूपी मूढ़ता नहीं छोड़ता। वह बाहरी प्रयत्न से निर्विकल्प होने का दिखावा करता है, परंतु उसके मन में विषयों की लालसा भरी रहती है।

भाष्य—तत् वस्तु=वह वस्तु जो अपना स्वरूप है—शुद्ध चेतन आत्मा, उसका उपदेश सुनकर भी मंद बुद्धि का मनुष्य, **विमूढताम् न जहाति**=भोग-बुद्धि की जड़ता नहीं छोड़ता। वह, **बहिः यत्नात्**=बाहरी यत्न से, दिखावा करके, **निर्विकल्पः**=द्वंद्वातीत होने का ढोंग करता है, किंतु, **अन्तः विषय लालसः**=मन में विषयों तथा प्रतिष्ठा की इच्छाएं भरी

रहती हैं।

199. ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किंचन॥ 77॥

ज्ञानात्-गलित-कर्मा, यः, लोकदृष्ट्या-अपि, कर्मकृत्। न-आप्नोति-अवसरम्, कर्तुम्, वक्तुम्-एव, न, किंचन।

स्वरूपज्ञान द्वारा जिसके कर्म-बंधन—राग-द्वेष नष्ट हो गये हैं, वह लोगों के देखने में कर्म करते हुए भी, उसे यह अवसर ही नहीं मिलता कि वह थोड़ा भी कर्म करे और उसके विषय में बोले।

भाष्य—यः=जो, जिनके, **ज्ञानात्**=स्वरूपज्ञान से, **कर्मा गलित**=कर्म गल गये हैं वह, **लोक दृष्ट्या**=लोगों के देखने में, **कर्मकृत अपि**=कर्म करते हुए भी, उसे, **कर्तुम् वक्तुम् किंचन**=कर्म करने तथा उसके विषय में बोलने का थोड़ा भी, **अवसरम् न आप्नोति**=अवसर नहीं मिलता।

बात पहेली जैसी है। ज्ञान से जिसके कर्म गल गये हैं, वह लोकदृष्टि से कर्म करते हुए भी कभी थोड़ा भी समय नहीं पाता कि कर्म करे या कर्म की चर्चा करे।

कर्म गल जाने का लक्षण है चित्त के राग-द्वेष एवं सांसारिक आकर्षण का समाप्त हो जाना। ऐसा व्यक्ति शरीर-निर्वाह और लोक-सेवा के लिए कर्म करता है, परंतु उसके कर्म राग-द्वेष पूर्वक भोग तथा प्रतिष्ठा के लिए नहीं होते, अपितु सब अनासक्ति और निष्काम भाव से होते हैं। जब उसके मन में अहंकार-कामना है ही नहीं, तो वह कैसे कहे कि मैं कुछ करता हूं। वह करते हुए भी नहीं करता, इसलिए उसे उसकी डींग हांकने की आवश्यकता नहीं होती। वह मौन होकर निष्काम-भाव से सेवा करता है।

200. क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा॥ 78॥

क्व, तमः, क्व, प्रकाशः, वा, हानम्, क्व, च, न, किंचन। निर्विकारस्य, धीरस्य, निरातंकस्य, सर्वदा।

निर्विकार, धीर और निर्भय ज्ञानी के लिए अंधकार, प्रकाश तथा हानि कहां हैं? उसे थोड़ा भी दुख नहीं है।

भाष्य—धीर पुरुष निर्मल मन का होता है। उसके मन में कोई आतंक नहीं, भय नहीं। अनात्म वस्तुओं के छूटने का भय होता है। ज्ञानी उसे पहले ही मन से छोड़े रहता है, फिर उसे क्या भय होगा? उसके मन में अंधकार होता ही नहीं, फिर प्रकाश की आवश्यकता कहां? वह तो स्वयं निरंतर ज्योतित है। फिर उसे हानि किस बात की?

201. क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः॥ 79॥

क्व, धैर्यम्, क्व, विवेकित्वम्, क्व, निरातंकता-अपि, वा। अनिर्वाच्य-स्वभावस्य, निःस्वभावस्य, योगिनः।

योगी का स्वभाव कथन में नहीं आता। वस्तुतः वह निःस्वभाव होता है। अतएव उसके लिए धैर्यवान, विवेकी तथा निर्भय होना भी कहते नहीं बनता।

भाष्य—धैर्य, विवेक और निर्भयता उसके जीवन में एकरूप हो जाते हैं। उसको इन बातों का अनुभव नहीं होता कि मैं धैर्यवान, विवेकवान और निर्भय हूं। न उसको कभी अधैर्य होता है, न मूढ़ता होती है और न भय होता है, इसलिए उसे अपने में धैर्य, विवेक और निर्भयता का अनुभव नहीं होता। इसलिए उसका स्वभाव अनिर्वचनीय—कथन में न आने वाला होता है। ग्रंथकार अंततः कहते हैं कि वह निःस्वभाव होता है—**निःस्वभावस्य योगिनः** वह देह के सारे स्वभावों से ऊपर चेतनाकार में रहता है, शुद्ध आत्मबोध में विश्राम करता है।

202. न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किंचन॥ 80॥

न, स्वर्गः, न-एव, नरकः, जीवन्मुक्तिः-न, च-एव, हि। बहुना-अत्र, किम्-उक्तेन, योग-दृष्ट्या, न, किंचन।

कृतार्थ आत्मा को न स्वर्ग की चाह है, न नरक का भय है और न

जीवन्मुक्त कहलाने की लालसा है। इस विषय में विशेष क्या कहा जाय, योग-दृष्टि से देखा जाय तो उसके लिए कुछ नहीं रह जाता।

भाष्य—जो आत्मतृप्त हो गया, उसका मन अलग चलता ही नहीं, फिर स्वर्ग-नरक से उसे क्या लेना-देना। वह लोगों द्वारा जीवन्मुक्त भी नहीं कहलाना चाहता, क्योंकि यह क्षणिक चर्चा है। ज्ञानी अनंत को देखता है जो प्रपंचशून्य एवं अमर स्थिति है। **योग दृष्ट्या न किंचन**= योगदृष्टि ही है प्रकृति का वियोग कर देना, फिर वहां आत्म-अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता।

203. नैवं प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥ 81॥

न-एवम्, प्रार्थयते, लाभम्, न, अलाभेन-अनुशोचति। धीरस्य, शीतलम्, चित्तम्-अमृतेन-एव, पूरितम्।

ज्ञानी लाभ के लिए भावुक नहीं होता, इसलिए लाभ न होने से उसे चिंता नहीं होती। धीरवान संत का चित्त शीतल और शांति रूपी अमृत से परिपूर्ण रहता है।

भाष्य—ज्ञानी का अर्थ केवल ज्ञाता नहीं है, अपितु हानि-लाभ के उद्वेग हर्ष-शोक से पार दशा है। इसीलिए ग्रंथकार उसे बारंबार **धीर** कहते हैं। कठिनाइयों से न घबराने वाला ही शीतल और अमृत-सागर होता है। विष को पीने वाला नीलकंठ शिव है। प्रतिकूलताओं को निर्विकार भाव से सह लेने वाला कल्याण स्वरूप होता है।

204. न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित्कृत्यं न पश्यति॥ 82॥

न, शान्तम्, स्तौति, निष्कामः, न, दुष्टम्-अपि, निन्दति। सम-दुःख-सुखः-तृप्तः, किंचित्-कृत्यम्, न, पश्यति।

निष्काम ज्ञानी पुरुष शांतात्मा की प्रशंसा नहीं करता, और दुष्ट की निंदा नहीं करता। वह सुख-दुख में समता से व्यवहार करते हुए आत्मसंतुष्ट रहता है। वह अपने जीवन में कोई कर्म करना अवशेष नहीं समझता।

भाष्य—प्रशंसा-निंदा करने की प्रवृत्ति से दूर रहना, सुख-दुख में समता से व्यवहार करना, सदा आत्मसंतुष्ट रहना और पूर्णकाम रहना जीवन की उच्चतम स्थिति है। इस दशा में मन में कोई ताप नहीं रहता। ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष भी लोक-मंगल के लिए सेवा करता है। उसे अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहता। किंतु जन-सेवा के लिए करता है।

205. धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥ 83॥

धीरः, न, द्वेष्टि, संसारम्-आत्मानम्, न, दिदृक्षति। हर्ष-अमर्ष-विनिर्मुक्तः, न, मृतः, न, च, जीवति।

धीरवान ज्ञानी संत संसार से द्वेष नहीं करता, और न आत्मा को देखने की इच्छा करता है। वह हर्ष और अमर्ष से पूरा मुक्त रहता है। वह न मरता है और न जीवित रहता है।

भाष्य—आत्मसंतुष्ट धीरवान पुरुष किसी से वैर नहीं रखता, द्वेष नहीं रखता। वह, **आत्मानम् दिदृक्षति न**=आत्मा को देखने की इच्छा नहीं रखता। आत्मा तो अदृश्य और देहोपाधि में सबका द्रष्टा है। आत्मा वह स्वयं है, फिर उसकी **दिदृक्षा**=देखने की इच्छा क्या? वह हर समय हर्ष-शोक के फुलाव-पचकाव से मुक्त रहता है। वह, **न मृतः न च जीवति**=न मरता है न जीता है। मरना-जीना दैहिक बुद्धि है। आत्मा अमर है। अतएव ज्ञानी मरने-जीने से ऊपर एकरस है।

206. निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः॥ 84॥

निःस्नेहः, पुत्र-दारादौ, निष्कामः, विषयेषु, च। निश्चिन्तः स्व-शरीरे-अपि, निराशः, शोभते, बुधः।

पुत्र, पत्नी आदि स्वजनों से निर्मोह, सारे विषय-भोगों से निष्काम, अपने माने गये शरीर के रहने-जाने की चिंता से रहित और सबकी आशा से मुक्त होकर बोधवान संत संसार के लिए शुभ-प्रेरक होते हैं, इसलिए सम्माननीय होते हैं।

भाष्य—प्राणियों से मोह न करना, भोगों की कामना न रखना, शरीर के रहने-जाने की चिंता न रखना और इस सदैव के लिए छूटने वाले संसार की कोई आशा न रखना स्वस्थ चित्त का लक्षण है। ऐसा संत अपने और पराये का तारक है।

207. **तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।**
स्वच्छन्द चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः॥ 85॥

तुष्टिः, सर्वत्र, धीरस्य, यथा-पतित-वर्तिनः। स्वच्छन्द, चरतः, देशान्-यत्र-अस्तमित-शायिनः।

धीरवान ज्ञानी सर्वत्र संतुष्ट रहता है। वह प्रारब्धानुसार जैसा मिल जाय वैसा बरताव कर लेता है। वह स्वच्छंद होकर संसार में विचरता है और जहां सूर्य डूबता है, वहीं सो जाता है।

भाष्य—ज्ञानी सर्वत्र संतुष्ट रहता है और, **यथा पतित वर्तिनः**= जैसा मिलता है वैसा बरताव कर लेता है। यह ठीक है। परंतु "सर्वत्र स्वच्छन्द घूमना और जहां सूरज डूबा वहीं सो जाना" कथन बड़ा मोहक होते हुए भी सहज नहीं है। नये और कच्चे साधक के लिए यह पतन का पथ है। परिपक्व साधक के लिए भी यह सहज नहीं है। इसलिए पिनक वाली बातों से सावधान रहें। विवेकवान संत-गुरु का आधार लेकर रहें।

208. **पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।**
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः॥ 86॥

पततु-उदेतु, वा, देहः, न-अस्य, चिन्ता, महात्मनः। स्व-भाव-भूमि-विश्रांति-विस्मृत-अशेष-संसृतेः।

जो महात्मा आत्म-अस्तित्व की भूमि पर विश्राम करते हैं और संपूर्ण संसार को भूल गये हैं, वे यह चिंता नहीं करते कि शरीर अभी मिट जाता है कि कुछ दिन आगे ठहरा रहता है।

भाष्य—**महात्मनः**= जो महात्मा, **स्व-भाव-भूमि**= अपने अस्तित्व की भूमि पर, आत्म-अस्तित्व की स्थिति में विश्राम करते हैं, वे, **विस्मृत अशेष संसृतेः**= संपूर्ण संसार को भूल जाते हैं। उनके लिए देह का अभी

नष्ट हो जाना अथवा कुछ दिन बने रहना कुछ महत्त्व नहीं रखता। जो शाश्वत स्वरूपस्थिति अमृत-सागर में निरंतर निमग्न है, वह देह-कचड़े के रहने-न-रहने की क्या चिंता करेगा!

209. अंकिचनः कामचरो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः॥ 87॥

अंकिचनः, कामचरः, निर्द्वन्द्वः-छिन्न-संशयः। असक्तः, सर्व-भावेषु, केवलः, रमते, बुधः।

मोह-नींद से जगा हुआ ज्ञानी अंकिचन, इच्छानुसार आचरण करने वाला, द्वन्द्वरहित, संशय-रहित, सब तरफ से अनासक्त अपने अद्वितीय असंग आत्मा में रमता है।

भाष्य—अंकिचन वह है जिसके पास कुछ न हो। देहधारी को शरीर-रक्षा के लिए कुछ रखना पड़ता है। साधक अपने लिए अधिक संग्रह न करे। परिवार और समाज के लिए संग्रह ठीक है, परंतु वह विवेकपूर्वक खर्च होता रहे।

कामचरः का अर्थ है इच्छानुसार आचरण करने वाला या भ्रमण करने वाला। विवेकवान की इच्छा शुद्ध होती है वह जो कुछ आचरण करेगा संयत और शुद्ध ही रहेगा। उसका घूमना-फिरना भी विवेकपूर्वक ही रहेगा।

निर्द्वंद्वः का अर्थ है हर्ष-शोक से पार, शांत चित्त, सब समय प्रसन्नात्मा।

छिन्न संशयः का अर्थ मन में स्वरूपस्थिति के लिए और देहनिर्वाह के संबंध में कोई संदेह न होना।

सर्व भावेषु असक्तः का अर्थ है सभी तरफ से अनासक्त, कहीं मोह-माया नहीं।

केवलः रमते का अर्थ है असंग भाव में निमग्न, अपनी कैवल्य दशा में स्थित।

जगा हुआ व्यक्ति उक्त लक्षणों वाला होता है।

210. निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः॥ 88॥

निर्ममः, शोभते, धीरः, सम-लोष्ट-अश्म-कांचनः। सुभिन्न-हृदय-ग्रंथिः-विनिर्धूत-रजस्-तमः।

जो ममताहीन है, जिसकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना समान हैं, जिसके हृदय की राग-द्वेष ग्रंथि कटकर सर्वथा दूर हो गयी है, जिसके मन के रजोगुण और तमोगुण सर्वथा धुल गये हैं, वह धीरवान ज्ञानी संत संसार में शोभा पाता है।

भाष्य—जहां का सब कुछ अपरिचित था और आगे सब कुछ विस्मृति के गर्त में डूब जाना है, वहां किसमें ममता की जाय। लोष्ट, अश्म और कंचन—मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना व्यवहार में भिन्न मूल्य और अर्थ रखते हैं, परंतु हैं सब मिट्टी ही। विवेकवान उनका व्यवहार यथायोग्य करता है, परंतु उनमें कहीं मोहता नहीं है क्योंकि वे अनात्म और अनित्य हैं।

हृदय-ग्रंथि का सुभिन्न हो जाना, अच्छी तरह कट जाना जीवन की सर्वोच्च सुखद घटना है। हम व्यर्थ मानसिक ग्रंथि बनाकर राग-द्वेष में उलझे रहते हैं और रात-दिन उसी की आग में जलते हैं। वे मनुष्य धन्य हैं जिनके हृदय की राग-द्वेष ग्रंथि कटकर पूर्णतया समाप्त हो गयी है। वे ही सुख से सोते, जागते और जीते-मरते हैं।

रजोगुण और तमोगुण का विनिर्धूत—पूर्णतया दूर कर दिया जाना, हटा दिया जाना साधना का फल है।

ये सारी घटनाएं जिसके जीवन में घट जाती हैं, वह सदैव परम शांति-सागर में निमज्जन करता है।

211. सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते॥ 89॥

सर्वत्र-अनवधानस्य, न, किंचित्-वासना, हृदि। मुक्तात्मनः, वितृप्तस्य, तुलना, केन, जायते।

जिसका सब तरफ से ध्यान हट गया है, जिसके हृदय में किसी प्रकार

किंचित भी वासना नहीं है, जो सदैव आत्म-तृप्त है; उसकी तुलना किससे की जा सकती है?

भाष्य—अवधान का अर्थ है, ध्यान और अनवधान का अर्थ है ध्यान न होना। जो सर्वत्र अनवधानस्य है—सब तरफ से निस्पृह, निरपेक्ष है और जिसके हृदय में किसी प्रकार की वासना नहीं है, जो आत्मसंतुष्ट और सब तरह छुटा हुआ एवं मुक्त है, उसकी तुलना में कोई नहीं है।

212. जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते॥ 90॥

जानन्-अपि, न, जानाति, पश्यन्-अपि, न, पश्यति। ब्रुवन्-अपि, न, च, ब्रूते, कः-अन्यः, निर्वासनात्-ऋते।

जो जानते हुए भी नहीं जानता है, देखते हुए भी नहीं देखता है और बोलते हुए भी नहीं बोलता है, वह वासनाहीन बोधवान के अलावा कौन हो सकता है?

भाष्य—जीवन्मुक्त पुरुष के भी मन और इंद्रियां हैं, इसलिए वह भी जानता, देखता और बोलता है, परंतु उसका सब अनासक्तिपूर्वक एवं पूर्णनिष्काम भाव से होता है, इसलिए वह मानो जानते हुए भी नहीं जानता, देखते हुए भी नहीं देखता और बोलते हुए भी नहीं बोलता। उसका सारा मनस्ताप मिटा है। इसलिए वह पूर्ण मुक्त है।

कः अन्यः निर्वासनात्= कौन दूसरा है वासनाहीन के, **ऋते**= बिना—वासनाहीन के अलावा कौन होगा जो उक्त लक्षणों का हो?

213. भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभानाशोभनामतिः॥ 91॥

भिक्षुः-वा, भूपतिः-अपि, यः, निष्कामः, स, शोभते। भावेषु, गलिता, यस्य, शोभन-अशोभना-मतिः।

चाहे भिखारी हो, चाहे बादशाह हो, जिसका मन पूर्ण निष्काम है और जिसकी सुंदर और कुरूप की भावना पूर्णतया गल गयी है, वह सुखी और सफल है।

भाष्य—लौकिक दृष्टि से भिखारी और बादशाह में जमीन-आसमान का अंतर है; किंतु सच्चाई में दोनों बराबर हैं। दोनों मनुष्य हैं। दोनों के पास मन है। जिसका मन सब तरफ से निष्काम है, और अनुकूल-प्रतिकूल द्वंद्व से मुक्त है वही सुखी है, वही सफल है। भीतर का संताप जिसका मिटा है, वही सर्वोच्च है।

214. क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः॥ 92॥

क्व, स्वाच्छन्द्यम्, क्व, संकोचः, क्व, वा, तत्त्व-विनिश्चयः। निर्व्याज-आर्जव-भूतस्य, चरितार्थस्य, योगिनः।

जो निष्कपट और सरलता की मूर्ति है और जिसने जीवन को चरितार्थ कर लिया है—आत्मतृप्त हो गया है, उस योगी के लिए स्वच्छंदता, संकुचितता और तत्त्व निश्चय का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

भाष्य—निर्व्याज का अर्थ है निष्कपट, सच्चा, विशुद्ध। आर्जव का अर्थ है सरलता जो निष्कपटता के निकट है। **आर्जव भूतस्य**= आर्जव में मिला हुआ, सरलता में तद्गत, सरलता की मूर्ति। चरितार्थ का अर्थ है पूर्ण तृप्त। ग्रंथकार कहते हैं, जो निष्कपट है, सरलता की मूर्ति है और अपने आपमें तृप्त है, वह इधर-उधर घूमता है कि एक जगह रहता है, इसका क्या अर्थ है। चाहे स्वच्छंद विचरणशील हो और चाहे एक जगह रहने वाला हो, उसकी दिव्य स्थिति में कोई अंतर नहीं है।

रही तत्त्व निश्चय की बात—**क्व तत्त्व विनिश्चयः।** तो तत्त्व निश्चय एवं स्वस्वरूप का बोध उसे पहले हो चुका है, इसलिए अब तत्त्व निश्चय करना शेष नहीं रहा।

215. आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अन्तर्यदनुभूयते तत्कथं कस्य कथ्यते॥ 93॥

आत्म-विश्राम्-तृप्तेन, निराशेन, गत-अर्तिना। अन्तः-यत-अनुभूयते, तत्-कथम्, कस्य, कथ्यते।

जो संत आत्मा में विश्राम पाकर तृप्त हैं, संसार से निष्काम हैं और जिनके मन की पीड़ा नष्ट हो गयी है, उनके अंतःकरण का जो अनुभव है, उसे वे किसे कैसे बतावें?

भाष्य—जो आत्मलीन हैं, आत्मसंतुष्ट एवं आत्मविश्राम-प्राप्त हैं, जिन्हें संसार से अब कुछ भी पाने की वासना नहीं है, इसलिए जो **गत-अर्ति**=पीड़ा से मुक्त हो गये हैं, उनके हृदय का अनुभव संसारियों से विलक्षण है। वे दूसरे से यही कह सकते हैं कि मैं सुखी हूं, संतुष्ट हूं, शांत हूं; परंतु ये केवल सुपरिचित शब्द हैं, हृदय का अनुभव शब्दों में नहीं उतरता है। उसे तो स्वयं उस दशा में पहुंचकर ही जाना जा सकता है।

जो आत्मविश्राम प्राप्त, तृप्त, निष्काम और मन के संताप से मुक्त हैं, उनके, **अन्तः यत् अनुभूयते**=अन्तःकरण में जो अनुभव है, **तत कस्य कथम् कथ्यते**=उसे किससे कैसे कहें? वह स्वसंवेद्य है।

216. सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदेपदे॥ 94॥

सुप्तः-अपि, न, सुषुप्तौ, च, स्वप्ने-अपि, शयितः, न, च। जागरे-अपि, न, जागर्ति, धीरः-तृप्तः, पदे-पदे।

धीरवान संत सोते हुए भी मानो नहीं सोते हैं, स्वप्न देखते हुए भी नहीं सोते हैं और जागते हुए भी नहीं जागते हैं। वे तो पद-पद पर आत्मसंतुष्ट हैं।

भाष्य—बोधवान सोते हैं, परंतु उनकी सुषुप्ति में भी बोध का बीज रहता है। इसीलिए जागते ही उनका बोध सामने आ जाता है। अतएव बोधवान सोते हुए भी नहीं सोते हैं, अपितु बोध में ही रहते हैं। वे स्वप्न में रहते हुए भी नहीं सोते हैं। स्वप्न में भी उनके बोध का ही प्रभाव रहता है। जागते हुए भी वे जागृत-अवस्था के विकारों से परे रहते हैं। उनको मनोविकार नहीं रहता। इसलिए वे सब समय बोध में ही रहते हैं। इसीलिए—**धीरः तृप्तः पदे-पदे**=बोधवान हरक्षण आत्मतृप्त रहते हैं।

217. ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।

सुबुद्धिरपि निर्बुद्धि साहंकारोऽनहंकृती॥ 95॥

ज्ञः, सचिन्तः-अपि, निश्चिन्तः, सेन्द्रियः-अपि, निरिन्द्रियः। सुबुद्धिः-अपि, निर्बुद्धिः, सहंकारः-अनहंकृती।

ज्ञानी चिंतायुक्त होते हुए निर्श्चित होता है, इंद्रिय संयुक्त होते हुए इंद्रिय-रहित होता है, अच्छी बुद्धि वाला होते हुए भी बुद्धिहीन होता है और अहंकार युक्त होते हुए अहंकार से परे होता है।

भाष्य—ज्ञः का अर्थ है ज्ञानी। यहां ज्ञानी का अर्थ है आत्म-बोध में तृप्त आत्मा। वह चिंता करते हुए निर्श्चित होता है। जब कोई समस्या आती है तो ज्ञानी उसे सुलझाने के लिए चिंतन करता है, विविध कोणों से उसका सर्वेक्षण करता है। उसके इस चिंता में, चिंतन में उसे कोई दुख नहीं होता। वह सब कुछ क्षणिक समझता है। इसलिए वह किसी अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति को लेकर चिंताग्रस्त एवं दुखी नहीं होता है, अपितु चिंतन-विचार करके उलझे हुए व्यवहार को सुलझा लेता है। इसलिए वह चिंता करते हुए निर्श्चित होता है।

वह इंद्रिय-देह संयुक्त होते हुए भी इंद्रियों से अतीत एवं देहातीत है; क्योंकि वह बाहर से तो शरीर युक्त दिखता है, परंतु उसे हर समय अपने असंग, केवल, निराधार आत्म स्वरूप का भान रहता है। वह लोगों के देखने में देहयुक्त है, परंतु उस ज्ञानी का अनुभव निरंतर चेतन स्वरूप का रहता है।

ज्ञानी अच्छी बुद्धि वाला होते हुए भी निर्बुद्धि है। ज्ञानी बुद्धि को देहोपाधिक समझता है जैसा कि वह है। बुद्धि तर्कशील है, उहापोहात्मक है, किंतु ज्ञानी उससे पार पहुंचा पूर्ण विश्राम में है। ज्ञानी सत्य-असत्य को समझने के लिए बुद्धि का प्रयोग करता है, परंतु सत्य को समझकर शांत हो जाता है, फिर बुद्धि वहां निष्क्रिय हो जाती है। समाधि में बुद्धि की गुंजाइश नहीं रहती।

ज्ञानी अहंकारी होकर अहंकारी नहीं होता। वह कहता है, मैं ब्रह्म हूं, मैं महान हूं। यह अहंकार-जैसा दिखता है, परंतु यह अहंकार नहीं, अपितु सत्य की स्वीकृति है। आत्मा ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान, देवी-देवता, ईश्वर-परमात्मा, मत-मतांतर, ग्रंथ-संप्रदायों की रचना एवं कल्पना करता है। अतएव वही महत्तम है।

218. न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किंचिन्न चऽकिंचन॥ 96॥

न, सुखी, न, च, वा, दुःखी, न, विरक्तः, न, संगवान्। न, मुमुक्षुः–न, वा, मुक्तः, न, किंचिन्, न, च–अकिंचन।

बोधवान संत न सुखी होता है, न दुखी होता है, न विरक्त होता है, न अनुरक्त होता है, न मुमुक्षु होता है, न मुक्त होता है, न उसके कुछ होता है और नहीं न कुछ होता है।

भाष्य—ज्ञानी सांसारिक उपलब्धि में प्रसन्न नहीं होता है, और उसके चले जाने पर दुखी नहीं होता। वह कहीं **संगवान्**= आसक्त नहीं होता, इसलिए उसे विरक्त होने की बात नहीं उठती। ज्ञानी सभी मानसिक ग्रंथियों से मुक्त होता है, फिर उसे मुमुक्षु होने और मुक्त होने का शेष ही नहीं रहा। वह तो नित्य मुक्त ही है। वह अपने असंग ज्ञान स्वरूप में स्थित है, इसलिए उसके पास कुछ होने और न होने का कोई मूल्य नहीं रहता।

219. विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः॥ 97॥

विक्षेपे–अपि, न, विक्षिप्तः, समाधौ, न, समाधिमान्। जाड्ये–अपि, न, जडः, धन्यः पाण्डित्ये–अपि, न, पण्डितः।

ज्ञानी विक्षिप्त दिखते हुए भी विक्षिप्त नहीं होता, समाधि में डूबा रहने पर भी समाधि वाला नहीं दिखता, मूर्ख दिखते हुए भी मूर्ख नहीं होता और पांडित्य से पूर्ण होने पर भी पंडित नहीं होता।

भाष्य—राग-रंग से हटकर एकांत साधना में लगने वाले को दुनियादारी लोग विक्षिप्त एवं पागल ही मानते हैं, परंतु वह पागल नहीं होता, अपितु सच्चा सजग ज्ञानी होता है। ज्ञानी सब समय समाधि लगाये तो नहीं बैठा रहता, परंतु उसकी सब समय समाधि रहती है, क्योंकि उसके संकल्प-विकल्प शांत होते हैं।

वह सांसारिक ज्ञान से प्रायः रहित रहने से मूर्ख दिखता है, परंतु मूर्ख नहीं होता, अपितु सच्चा बुद्धिमान होता है, क्योंकि उसने वह ज्ञान और

व्यवसाय पाया जिसके फल में मन का संताप सदा के लिए समाप्त हो जाता है। वह जानने योग्य और करने योग्य को जानकर और करके सदा मुक्ति में विराजता है, इसलिए वह महापंडित है, फिर भी वह पत्राधारी पंडित नहीं होता।

220. मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्रवैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ 98॥

मुक्तः, यथा-स्थिति-स्वस्थः, कृत-कर्तव्य-निर्वृत्तः। समः, सर्वत्र-वैतृष्ण्यात्-न, स्मरति-अकृतम्, कृतम्।

बोधवान सब समय मानसिक ग्रंथियों से मुक्त होता है। वह जीवनयात्रा में जो देशकाल प्राप्त होते हैं, उनमें स्वस्थ एवं शांत मन वाला होता है। उसका सब काम सब समय पूरा हुआ रहता है, अथवा अपने किये हुए कर्तव्य-कर्मों के संबंध में उद्वेग-शून्य होता है। वह सब समय समता में बरतता है। वह सर्वत्र सभी क्षेत्रों में तृष्णा से रहित होने से यह नहीं सोचता कि मैंने यह किया और यह नहीं कर पाया।

भाष्य—**मुक्तः**= सभी मानसिक ग्रंथियों से छुटा हुआ। **यथास्थिति स्वस्थः**= सभी दशाओं में प्रसन्न। **कृत कर्तव्य निर्वृतः**= सारा काम पूरा, कुछ करना शेष नहीं। अथवा अपने द्वारा किये गये कर्तव्य कर्मों के उद्वेग से रहित। **समः**= समता से बरतने वाला। **सर्वत्र वैतृष्ण्यात्**= सभी क्षेत्रों में तृष्णा का त्यागी होने से, **न स्मरति कृतम् अकृतम्**= नहीं स्मरण करता कि यह किया और यह नहीं कर पाया।

221. न प्रीयते वन्द्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति॥ 99॥

न, प्रीयते, वन्द्यमानः, निंद्यमानः, न, कुप्यति। न-एव-उद्विजति, मरणे, जीवने, न-अभिनन्दति।

जीवन्मुक्त पुरुष स्तुति पाने पर प्रसन्न नहीं होता, निंदा पाने पर क्रोध नहीं करता, मृत्यु से भयभीत नहीं होता और जीने की कामना नहीं करता।

भाष्य—अंतर्मुखता की ऐसी मस्ती होती है कि मन में संताप रह ही

नहीं जाता। इसी स्थिति को प्राप्त करने में जीवन की सार्थकता है।

222. न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते॥ 100॥

न, धावति, जनाकीर्णम्, न–आरण्यम्–उप–शान्त–धीः। यथा, तथा, यत्र, तत्र, समः, एव–अवतिष्ठते।

जिसकी बुद्धि पूरी शांत है वह जीवन्मुक्त संत न भीड़–भड़क्का में जाने की इच्छा करता है और न वन में जाने की इच्छा करता है, अपितु जहां–तहां जैसे–तैसे देश–काल मिलते हैं, उसमें समता से रहकर शांत रहता है।

भाष्य—भीड़–भड़क्का की अपेक्षा एकांत क्षेत्र अच्छा होता है; परंतु प्रारब्ध यात्रा में आग्रह छोड़कर यथाप्राप्त में संतुष्ट रहने वाला ही सच्चा साधक या ज्ञानी है। खास बात है, सब समय, सब जगह उद्वेग–रहित होकर अंतर्मुख एवं शांत रहना।

उन्नीसवां प्रकरण

223. तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया॥ 1॥

तत्त्व-विज्ञान-संदंशम्-आदाय, हृदय-उदरात्। नाना-विध-परामर्श-शल्य-उद्धारः, कृतः, मया।

आत्मतत्त्व की सड़सी लेकर मन में गड़े हुए नाना प्रकार के मानसिक विकारों के बाणों को मैंने निकाल फेंका।

भाष्य—तत्त्वविज्ञान=आत्मतत्त्व ज्ञान की, **संदंदशम्**=सड़सी, **आदाय**=लेकर, **हृदय उदरात्**=मन में गड़े हुए, **नाना विध परामर्श शल्य**=नाना प्रकार के मन के विकारों के बाण, **मया उद्धार कृतः**=मेरे द्वारा निकाल लिए गये।

गुरु से इतना उपदेश पाकर शिष्य कहता है कि हे गुरुदेव! मेरे मन में नाना प्रकार के परामर्श, पकड़, विकार, अज्ञान, संकल्प-विकल्प के बाण गड़े थे। मैंने आपके दिये हुए आत्मज्ञान रूपी सड़सी से उन्हें निकालकर बाहर फेंक दिया और अब पूर्ण सुखी हो गया।

224. क्व भूतं क्व भविष्यत् वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वेमहिम्नि स्थितस्यमे॥ 3॥

क्व, भूतम्, क्व, भविष्यत्, वा, वर्तमानम्-अपि, क्व, वा। क्व, देशः, क्व, च, वा, नित्यम्, स्वे-महिम्नि, स्थितस्य-मे।

मैं अपनी शाश्वत महिमा में स्थित हूं, इसलिए मेरे लिए भूत, भविष्य, वर्तमान, देश आदि का कहां महत्त्व है!

225. क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।

क्व तुरीयंभयंवापि स्वेमहिम्नि स्थितस्यमे॥ 5॥

क्व, स्वप्नः, क्व, सुषुप्तिः-वा, क्व, च, जागरणम्, तथा। क्व, तुरीयम्-भयम्-वा-अपि, स्वेमहिम्नि, स्थितस्य-मे।

मैं अपनी महिमा में स्थित हूं, फिर मेरे लिए स्वप्न, जागृत, सुषुप्ति तथा तुरीय या किसी प्रकार का भय कहां?

भाष्य—आत्म-अस्तित्व ही अपना स्थिर पद है और उसमें शांत रहना अपनी महिमा में स्थित रहना है। जो निरंतर आत्मलीन है, उसके लिए कोई द्वंद्व नहीं है। वह देह व्यवहार क्षणिक समझकर उसका कर्तव्य करता है और अनुकूल-प्रतिकूल की परवाह नहीं करता।

226. क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥ 6॥

क्व, दूरम्, क्व, समीपम्, वा, बाह्यम्, क्व-आभ्यन्तरम्, क्व, वा। क्व, स्थूलम्, क्व, च, वा, सूक्ष्मम्, स्वे, महिम्नि, स्थितस्य, मे।

दूर, समीप, बाहर, भीतर, स्थूल और सूक्ष्म की कल्पना कैसी? मैं अपनी महिमा में स्थित हूं।

भाष्य—सारी कल्पना मन की है। जब मन पूर्ण शांत हो गया, तब शेष स्वयं चेतन तत्त्व है। वही पारख है, राम है, शिव है, परम शांत पद है।

227. क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥ 7॥

क्व, मृत्युः-जीवितम्, वा, क्व, लोकाः क्व-अस्य, क्व, लौकिकम्। क्व, लयः, क्व, समाधिः-वा, स्वे, महिम्नि, स्थितस्य, मे।

मैं अपनी महिमा में स्थित हूं, फिर मेरे लिए मृत्यु, जीवन, लोक, लौकिक, लय और समाधि कहां?

भाष्य—जहां सब समय समाधि है, वहां भिन्न समय में लय तथा

समाधि की बात ही नहीं उठती है। जो अपने आप में निरंतर स्थित है, उसके लिए जीवन, मृत्यु, लोक, लौकिक सब व्यर्थ हैं।

228. अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि॥ 8॥

अलम्, त्रिवर्ग-कथया, योगस्य, कथया-अपि-अलम्। अलम्, विज्ञान-कथया, विश्रान्तस्य, मम-आत्मनि।

अपने आत्मा में विश्राम पाने के बाद अर्थ, धर्म और काम की चर्चा, योग की चर्चा और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा बस, पूरी समाप्ति।

भाष्य—अलम् का अर्थ है पूरा, बस। जो आत्मा में विश्राम पा गया है, उसके लिए अब क्या कहना और करना रहा? उसका सब पूरा है। गंतव्य, मंजिल, 'गोल' आत्मविश्रांति ही है। उसके मिल जाने के बाद क्या जानना, कहना, करना शेष रहा? कुछ नहीं।

बीसवां प्रकरण

229. **क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः।**
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने॥ 1॥

क्व, भूतानि, क्व, देहः, वा, क्व-इन्द्रियाणि, क्व, वा, मनः। क्व, शून्यम्, क्व, च, नैराश्यम्, मत-स्वरूपे, निरंजने।

मेरा स्वरूप मायातीत शुद्ध चेतन है, फिर मेरे लिए पृथ्वी आदि भूत जड़ तत्त्व, उनसे बनी देह, इंद्रियां तथा मन और शून्य तथा नैराश्य क्या अर्थ रखते हैं?

भाष्य—पृथ्वी आदि जड़ तत्त्व अनात्म हैं, उनसे बनीं देह-इंद्रियां अनात्म हैं। इन सबके बीच में बना मन अनात्म है और शून्य भी अनात्म है। फिर इनसे मुझे क्या प्रयोजन! इन सबसे निराश रहना चाहिए, अब इस भाव की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि मैं अपने निर्विशेष मायातीत आत्मा में स्थित हूं। न बाहरी कुछ आकर्षण है और न उनके प्रति नैराश्य का भाव लाना शेष है।

230. **क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।**
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥ 6॥

क्व, लोकः, क्व, मुमुक्षुः-वा, क्व, योगी, ज्ञानवान्, क्व, वा। क्व, बद्धः, क्व, च, वा, मुक्तः, स्व-स्वरूपे-अहम्-अद्वये।

मैं अपने अद्वय, केवल स्वरूप में स्थित हूं, फिर मेरे लिए मुमुक्षु, योगी, ज्ञानवान, बद्ध और मुक्त होने की बात कहां रह गयी?

भाष्य—जो असंग स्वरूप में स्थित है, उसके लिए सारी बातें पीछे छूट जाती हैं। "उत्तीर्णे तु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम्" नदी पार हो

जाने पर नाव का क्या प्रयोजन? मुक्त वह निरंतर है, तब अलग से मोक्ष की बात ही व्यर्थ है।

231. **क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।**
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥ 7॥

क्व, सृष्टिः, क्व, च, संहारः, क्व, साध्यम्, क्व, च, साधनम्। क्व, साधकः, क्व, सिद्धिः–वा, स्व–स्वरूपे–अहम्–अद्वये।

मैं अपने असंग स्वरूप में स्थित हूं, फिर मेरे लिए सृष्टि, संहार, साधन, साध्य, साधक, सिद्धि आदि की बात क्या अर्थ रखती है?

232. **क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।**
क्व किंचित् क्व न किंचित् वा सर्वदाविमलस्य मे॥ 8॥

क्व, प्रमाता, प्रमाणम्, वा, क्व, प्रमेयम्, क्व, च, प्रमा। क्व, किंचित्, क्व, न, किंचित्, वा, सर्वदा–विमलस्य, मे।

मैं सदा निर्मल हूं, फिर मेरे लिए प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमा की चर्चा क्या महत्त्व रखती है। कुछ है और कुछ नहीं है, यह सब विकल्प मेरे लिए निरर्थक है।

233. **क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता।**
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे॥ 9॥

क्व, विक्षेपः, क्व, च–एकाग्र्यम्, क्व, निर्बोधः, क्व, मूढता। क्व, हर्षः, क्व, विषादः, वा, सर्वदा, निष्क्रियस्य, मे।

मेरे निष्क्रिय–निष्कंप स्थिर आत्मशांत के लिए चंचलता, एकाग्रता, अज्ञान, मूढ़ता, हर्ष और विषाद कहां हैं?

234. **क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।**
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा॥ 10॥

क्व, च–एष, व्यवहारः, वा, क्व, च, सा, परमार्थता। क्व, सुखम्,

क्व, च, वा, दुःखम्, निर्विमर्शस्य, मे, सदा।

मेरे संकल्प-विकल्प-रहित प्रशांत स्थितवान के लिए व्यवहार, परमार्थ, सुख-दुख कहां हैं?

भाष्य—स्थितिवान के लिए सब कुछ पीछे छूट जाता है। फिर भी वह व्यवहार का काम करता है, परमार्थ में तो उसका निरंतर निवास ही है। सुख-दुख आते हैं, परंतु वह उनसे अनासक्त रहता है।

निर्विमर्श= प्रशांत, धीरवान, शांतात्मा हर प्रकार की मानसिक पीड़ा से सर्वथा मुक्त होता है।

235. क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा।
क्व जीवः क्व च तदब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे॥ 11॥

क्व, माया, क्व, च, संसारः, क्व, प्रीतिः-विरतिः, क्व, वा। क्व, जीवः, क्व, च, तत्-ब्रह्म, सर्वदा, विमलस्य, मे।

मैं सर्वदा निर्मल स्वरूपस्थिति में निमग्न हूं, फिर मेरे लिए माया, संसार, प्रेम, वैराग्य, जीव और ब्रह्म की चर्चा का क्या महत्त्व है?

भाष्य—जीव और ब्रह्म शब्द है। इनका अर्थ है मेरा अपना चेतन अस्तित्व। मैं उसमें स्थित हूं, फिर जीव-ब्रह्म की उलझन भरी बतकही से क्या प्रयोजन! मोह ही माया है और वही संसार है और वह मिट गया, तो वैराग्य करने की बात ही समाप्त हो गयी। अब तो मैं सदा स्वरूप-निमग्न हूं।

236. क्वचास्ति क्व चवानास्ति क्वास्तिचैकं क्वचद्वयम्।
बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोत्तिष्ठते मम॥ 14॥

क्व-च-अस्ति, क्व, च-वा-नास्ति, क्व-अस्ति-च-एकम्, क्व-च-द्वयम्। बहुना-अत्र, किम्-उक्तेन, किंचित्-न-उत्तिष्ठते, मम।

अस्ति-नास्ति, एक-दो के विवाद की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं यहां अधिक क्या कहूं, मुझे कुछ भी नहीं उठता।

भाष्य—एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि। है जैसा रहै तैसा,

कहहिं कबीर बिचारि।। (बी. सा. 120)। एक कैसे कहें, नाना जीव हैं, उनसे पृथक नाना जड़तत्त्व हैं, उनके असंख्य कण हैं। किंतु निर्विकल्प समाधि लग गयी, तो अकेला रह गया, वहां दूसरा कहां है। वहां तो अद्वैत है। वहां दूसरे की उपस्थिति कहना उसको गाली देना है, उसे झुठलाना है। अतएव कबीर विचार कर कहते हैं कि जगत एवं सत्ता नानात्मक है और स्वरूपस्थिति अद्वैत है।

ग्रंथकार कहते हैं, **बहुना अत्र किम् उक्तेन**= यहां बहुत क्या कहना? **मम किंचित् न उत्तिष्ठते**= मुझे कुछ नहीं उठ रहा है, बोलने का मन नहीं होता, आर्य मौन!